श्रीकृष्णानुरागिणी
पू॰ संतोष जी



लेखन व सम्पादन
डॉ॰ निशा शुभ

प्रकाशक
बाबा मनोहरदासजी
वेणु विनोद कुंज, वृन्दावन

सत्प्रेरणा एवं पथ प्रदर्शन
१- बाबा मनोहरदासजी, वेणु विनोद कुंज, वृन्दावन
२- पू॰ सुशीला बहिनजी, 82, बांके बिहारी कालोनी, वृन्दावन

प्रथम प्रकाशन
५०० प्रतियां

तिथि- गुरुपूर्णिमा, २००५ (२१ जुलाई,२००५)

न्यौछावर- १०१/- रुपये

पुस्तक प्राप्ति स्थान

1. वेणु विनोद कुंज, वृन्दावन
2. ८२, बांकेबिहारी कालोनी, वृन्दावन

मुद्रक :
राधा प्रेस
कैलाश नगर, दिल्ली - 31
✆ (०११) २२०८३१०७

समर्पण

उन्हीं अपने नीलमाधव के
मृदुल पाद पद्मों में

बिन हरि कृपा मिलै नहीं संता

विषय–सूची

प्रारम्भिक पृष्ठ

जीवनी

दो शब्द

महत् पुरुषों का चरित लिखना लौकिक बुद्धि की बात नहीं है। भगवत् चरित का अंकन सहज है, परन्तु सन्तों के जीवन के विषय में लिखना बहुत कठिन है। हाँ भावनावश, श्रद्धावश, अपने को पवित्र करने के लिए ही यथामति, कुछ वर्णन किया जाता है।

सन् १९४५ में जब श्रीसन्तोष बहिनजी वृन्दाबन आईं तो संयोगवशात् सर्वप्रथम मुझसे ही एक भिक्षार्थी के रूप में उनका परिचय हुआ।

घटना इस प्रकार है – श्री-जी (पू॰ बालकृष्णदास जी महाराज) गोविन्दबाग में श्रीमोतीरामजी के यहाँ रहते थे। मैं नित्य ही सत्संग चर्चा हेतु वहाँ जाता था। एक दिन संध्या के समय बाईस तेईस वर्ष की एक सुन्दर युवती, काली सलवार एवं काली चुन्नी ओढ़े हुए, दीन हीन दैन्यता की प्रतिमा, झुका हुआ सिर, अश्रुपूरित नेत्र, वर्षा से भीजे वस्त्र, व्याकुल हृदया, गोविन्द बाग गली से मन्द मन्द पग रखते हुए द्वार के सामने आकर ठिठक गई। कुछ मांगने की मुद्रा में एक हाथ ऊपर उठाकर दैन्य से सने मन्द मधुर स्वर में बोली– एक रोटी का टुकड़ा। पू॰ श्री-जी एवं हम सभी को उस स्वर ने चौंका दिया। सभी की दृष्टि उसकी ओर उठ गई। मन के पारखी अन्तर्दृष्टि सम्पन्न श्री-जी ने भावभरे शब्दों में मुझसे कहा– "मनोहरजी इसे रोटी देदो, अच्छी सन्त है।" मैंने शीघ्रता से उठकर ताकमें जो मेरी भिक्षाकी दो रोटी रखी थी गुड़ सहित उसे देदी। अपने प्रंति हमारी आदर बुद्धि देख वे शीघ्रता से केवल रोटी लेकर एवं गुड़ को नीचे फेंककर भाग छूटी। इसके बाद कभी-कभी रास्ते में उनके दर्शन हो जाते थे। जहाँ भी मिलतीं, सतत आँखों से अश्रु बहते ही दीखते। मैं उन दिनों ग्वालियर वाली छोटी कुंज में वंशीवट के सामने भिक्षावृत्ति से रहता था। कुछ दिनों पश्चात् श्रीरामकृपालु जी महाराज वहाँ पधारे। बहिनजी तो सन्तों की खोज में रहती ही थीं, वह उनके दर्शनों के लिए वहाँ पहुँच गई। वहाँ भी मेरी उनसे बातचीत हुई। इस

प्रकार उनसे घनिष्टता बढ़ती गई। वे एकबार पुनः कुछ महिनों के लिए झेलम चली गई थीं, फिर स्थायी रूप से वृन्दाबन में रहने लगीं।

मैं उन दिनों पू॰ श्री-जी के पास गंगा मन्दिर में उनके आश्रय में रहने लगा था। सन्तोष बहिनजी, इलाहाबाद हाईकोर्ट के वकील श्रीबाँकेबिहारीजी जो इन दिनों वृन्दावन में रहते थे एवं पूज्य श्री महाराज जी से अत्यन्त श्रद्धा रखते थे, इनसे एक सिद्ध सन्त के रूप में श्री-जी का परिचय प्राप्त कर चुकी थीं एवं प्रायः श्री-जी के दर्शनों के लिए आती रहती थीं। विलम्ब होने पर कभी-कभी मैं उन्हें उनके निवास स्थान पर पहुँचाने जाया करता था। बहिनजी से अत्यन्त आत्मीयता हो गई जो निरन्तर बढ़ती रही एवं आजीवन बनी रही।

श्रीसरलाजी के आ जाने से अब बहिनजी व्यवस्थित रूप से कमरा लेकर रहने लगी थीं। कालान्तर में मैं सूरजघाट पर मदनमोहन मंदिर के पास कुटिया में रहने लगा तो बहिनजी प्रतिदिन ही कुटिया पर आती एवं सभी प्रकार से मातृवत् मेरी सार सम्भाल करती रहती थीं। चाय-चीनी से लेकर ओढ़ने बिछाने तक की सारी चिन्ता उन्हें ही रहती थी।

एकबार मेरे पैर में मोच आ गई। मैं कुटिया में ही पड़ा रहता था। रोज पुलटिस बनाकर लाना व बाँधना, मालिश की व्यवस्था करना सेंकना सभी व्यवस्था वे ही करतीं। एकबार सायटिका पेन हो गया। उठना, बैठना चलना दूभर हो गया। उन दिनों उनके द्वारा बनाई गई गुदड़ी एवं बैठने की गद्दी का प्रयोग मैं आज भी करता हूँ एवं उनकी स्नेहमयी सार सम्भाल का स्मरण कर मन गद् गद् हो जाता है। एकबार उनके घर जा रहा था। मेरे हाथ से झोला कब गिर गया पता नहीं लगा। उनके यहाँ जाकर ख्याल आया। बस सुनने भर की देर थी, यह झोले की खोज में निकल पड़ीं मुझे सरलाजी के पास बैठाकर। मैंने बहुत रोका, बहिनजी छोड़िये कौन बड़ा धन है? अब मिलेगा भी क्या? पर धुन की पक्की बहिनजी कब मानने वाली थीं। जिस रास्ते से मैं आया वहाँ एक-एक घर में झोले के लिए पूछती फिरीं और आखिर दो तीन घन्टों में झोला लेकर वापिस लौटीं। ऐसी अनोखी थीं बहिनजी।

वे भगवत प्रेम से लबालव भरी रहती थीं। लाल चेहरा, डबडबाई आँखें, करुणा भरी दृष्टि सभी को जो उनके सम्पर्क में आता सिक्त करती रहती थीं। फिर मुझ पर तो उनका विशेष वात्सल्य एवं स्नेह था। कभी कारणवश उनके यहाँ जाना नहीं हो पाता तो स्वयं सरलाजी को लेकर कुशल क्षेम पूछने कुटिया पर पहुँच जाती थीं।

श्रीकृष्णानुराग उनके रोम रोम से टपकता था। श्रीकृष्ण चर्चा वे इतनी डूबकर करतीं कि श्रीकृष्ण की वहाँ साक्षात् उपस्थिति का ही भान होता था। कभी विरह स्थिति में हो जातीं तो ऐसा लगता कि इनका एक-एक रोम विरह से ओतप्रोत हो गया है। जब संयोग के आनन्द में होतीं तो ऐसा लगता कि इनकी सम्पूर्ण देह के रोम आनन्द व प्रेम से ही बने हुए हैं। उनकी ये दोनों धारायें सान्निध्य में रहने वाले को भी कुछ क्षणों के लिए डूबा देती थी।

इनके समान दैन्य दशा देखने में प्रायः नहीं आती। चलती तो जमीन में धंसी चली जाती। सदा झुकी हुई, नीची निगाह किए रास्ते के एक किनारे से मंद मंद चलती रहती। सन्तों के द्वार पर पहुँच जातीं तो सीड़ियों पर बहुत देर तक लोट पोट होती रहती, अश्रुओं से भिगोती रहतीं एवं वहां की रज इकट्ठी कर पल्ले में बांध लेतीं, अपने शरीर पर लगाती एवं मुँह में डालतीं। प्रत्येक सीढ़ी को अपने धोती के पल्ले से झाड़ती हुई एवं सिर टेकती हुई भीतर प्रवेश करतीं एवं सन्त के चरणों पर सिर टेक कर पड़ी रहती, बहुत अनुनय विनय करके उठाना पड़ता था। उनसे भगवत् प्रेम की भिक्षा माँगती रहती। एकबार अगाध विरह की स्थिति में पूज्य श्री महाराजजी के पास गंगा मंदिर में आकर तीन दिन तक इन्होंने भगवत् प्राप्ति के लिए जो अरण्य क्रन्दन किया उसका मैं प्रत्यक्षदर्शी हूँ। इनकी वह स्थिति देख हम आश्चर्य से श्री-जी से पूछते। श्री-जी कहते बस प्राप्ति के लिए व्याकुलता का एक बटन दबना और शेष हैं ये लक्ष्य के अति निकट पहुँच गई हैं। सन्त उच्छिष्ट में इनके प्राण बसते थे। निषेध करने पर उनकी थाली में से झपटकर उच्छिष्ट ले लेती थीं और साड़ी से हाथ पोछतीं हुई तेजी से भाग निकलती

थीं। पू॰ महाराजजी के जन्मोत्सव पर अवश्य आती और हजार रोकने पर भी श्री-जी का उच्छिष्ट लेकर ही जाती थीं।

जीवन में भय नाम की वस्तु ने तो इन्हें कभी छुआ ही नहीं। दो-दो बजे अन्धेरी रात में एकान्त जमुना पुलिन पर पड़ी रहतीं। कहीं एकान्त में नाम रत हो जाती। इन्होंने माला को कभी छुआ ही नहीं। मन की माला, नयनों में अश्रुमाला, हृदय में नन्दलाला यही इनका जीवन था।

सन्त दर्शनों के लिए आंधी वर्षा, जलती धूप, समय असमय, दूर निकट का ख्याल किए बिना धावित हो जाती थीं। भगवत् प्रेरणा व कृपा से ये स्वाभाविक ही सिद्धान्तों के पास पहुँच जाती। वे भी इन पर पूर्ण कृपा एवं प्यार बरसाते। निर्भीकता इनका सहज स्वभाव था। निधड़क सन्तों के पास पहुँच जातीं। इन्हें रोकने की किसी को हिम्मत न होती। उस समय के सभी सिद्ध सन्तों का– जैसे उड़िया बाबा, हरिबाबा, गौरांगदास बाबा प्रियाशरण बाबा, कृपासिन्धु बाबा, महाराजजी, करूणासिन्धुजी का इन पर सहज स्नेह था। इनके सरस, सरल भक्तिपूरित हृदय ने सभी सन्तों के मन में अपना एक स्थान बना लिया था। किसी सन्त के जरासे भी कष्ट के विषय में सुनती तो उसके निवारणार्थ अपने प्राणों की बाजी लगाने में इन्हें जरा भी संकोच नहीं होता। सत्य सत्य कहा जाय तो किसी की भी प्राण रक्षा के लिए ये बड़े से बड़ा त्याग करने को सदैव तत्पर रहती थी। जो एक बार भी इनसे मिलता इनके प्रेम में नहा जाता। सदा के लिए उनके प्रेम में बंध जाता।

ये सब पराकाष्ठा के गुण इनमें विद्यमान होते हुए भी इन्होंने जीवन में अपने लिए किसी से कोई अपेक्षा कभी नहीं की, किसी से सेवा नहीं ली। एकबार टटिया बाबा ने किसी के द्वारा सन्त के लक्षण पूछने पर कहा था- "जो परापेक्षा रहित है वह सन्त है।" इस कसौटी पर बहनजी सदैव खरी उतरी।

इन सब भगवदीय गुणों से युक्त प्रेम रस में सदा चूर रहते हुए भी प्रेम के लिए सदा प्यासी ही दिखा करती थीं। दैन्य के शृंगार से सदा शृंगारान्वित रहती थी। श्रीमहाप्रभु का ये श्लोक इनके जीवन में पूर्णत सार्थक हो रहा था–

तृणादापि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन, कीर्तनीयः सदा हरिः॥

इनके जीवन की कतिपय घटनाएँ आप प्रस्तुत चरित्र एवं संस्मरणों में पढ़ेंगे ही।

प्रसिद्ध सिद्ध सन्त श्रीराधा बाबा (स्वामी चक्रधर बाबा, गीता वाटिका) में इनक गुरु भाव था। एक ही बार के दर्शन में ये उनके प्रति समर्पित हो गईं उन्होंने भी इस हीरे को पहचान लिया एवं लिखकर इन्हें आश्वासन दिया- "जीवन के अन्तिम क्षण में श्रीकृष्ण स्वयं तुम्हें लेने आएंगे। मेरे कहने से उन्हें ऐसा करना पड़ेगा।"

इनकी महानता का इससे अधिक क्या प्रमाण दिया जा सकता है।

मैं अपना अहो भाग्य समझता हूँ कि ऐसी सन्त का अकारण स्नेह मुझे जीवन भर मिलता रहा।

जब ये रुग्ण शैय्या पर थीं, मुझे एक माह के लिए बाहर जाना पड़ा। जाते समय यह सोचकर मिल कर गया कि पता नहीं लौटने पर शरीर मिले न मिले। लौटने पर दूसरे ही दिन मैं इन्हें देखने गया। मुझ पर सारा स्नेह उडेल दिया। कान में आवाज देने पर आँखें खोल दी मेरा हाथ पकड़ लिया एवं दूसरे हाथ से कटि को आवृत कर लिया। एकटक देखती रहीं मानो चिरविदा ले रही हों। वहाँ उपस्थित सभी ने कहा– ये आपके लौटने की ही प्रतीक्षा कर रही थीं। और सच ही दूसरे दिन संध्या छः बजे इन्होंने धाम गमन किया।

इनका अगाध स्नेह एवं ममता का व्यवहार चिर स्मरणीय रहेगा। श्रीसन्तोष बहिनजी जीवन भर प्रशंसा के डर से अपने को छिपाती रहीं। मेरी तीव्र इच्छा थीं कि ऐसी उच्चकोटि की सन्त का चरित्र प्रकाश में आना चाहिए। सन्त चरित्र का लेखन किसी सहृदय सरस तथा उस विशिष्ट सन्त में निष्ठा रखने वाले व्यक्ति के द्वारा हो तो वह अधिक कल्याणकारी होता है ऐसा मेरा विश्वास है। अत: डा॰ निशा शुभ को, उपयुक्त समझकर मैंने बहिनजी के चरित्र लेखन के लिए प्रेरित किया या यों कहिए विशेष रूप से स्नेहाग्रह किया। डा॰ निशा एक अच्छी साधक हैं। ये धामवास एवं भजन

करने की इच्छा से सेवाकालपूर्ण होने के पहले ही सर्विस से अवकाश लेकर श्रीधाम आ गईं। ये सन्त श्री उषा बहिनजी के परिकर की ही है एवं एकान्तवास पूर्वक भजन से अपना समय व्यतीत करती हैं। अपने दैन्य एवं प्रसिद्धि के भय से बहुत मना करती रहीं परन्तु मेरे स्नेहवश एवं श्री सन्तोष बहिनजी के प्रति भी अति निष्ठावान होने से मेरे आग्रह को अति संकोच से स्वीकर कर लिया। मेरा विचार है इस लेखन से उनकी स्थिति में कोई न्यूनत्व या पथ में रूकावट नहीं आएगी वरन् इस पावन चरित्र के लेखन से एवं बहिनजी के आशीर्वाद से वे अपने पथ में अधिकाधिक उन्नति की ओर ही अग्रसर होंगी।

इन्होंने अत्यन्त परिश्रमपूर्वक जहाँ तहाँ उनके परिचितों से मिलकर लेखन के लिए सामग्री जुटाई एवं चरित्र लेखन का कार्य सार्थक रूप से सम्पन्न किया। उनके कतिपय अंशों को मैंने भी पढ़ा अत: कह सकता हूँ कि 'संत चरित्र ज्यों का त्यों उभरकर सामने आए' मेरे इस उद्देश्य की पूर्ति हुई है। बहन निशा का अत्यन्त लगन एवं निष्ठापूर्वक किया हुआ यह प्रयास सफल हुआ हैं मैं उनका बहुत ही आभारी हूँ।

उसी प्रकार सन्त श्री ऊषा बहिनजी के परिकर के श्री विश्वेश्वर भाई, दुलारी बहन, काकी बहन, सरोज बहन, सुमित्रा बहन, नारंग बहन, वेणु विनोद कुंज के श्री विद्याधर जी एवं अन्य भी जिन्होंने जाने अनजाने इस कार्य में सहयोग दिया है वे सभी धन्यवाद के पात्र हैं।

धन्यवाद देना तो मात्र एक औपचारिकता का निर्वाह करना है सभी तो बहनजी के निजजन है सभी को तो बहनजी ने नख से शिख अपने स्नेह जल से नहलाया है यह तो अपना ही कार्य है।

अन्त में, मेरा पूर्ण विश्वास है कि सन्त श्री सन्तोष बहिनजी का जीवन चरित्र पाठकों को अत्यन्त सुख प्रदान करेगा तथा पथ में अग्रसर होने की प्रेरणा देता रहेगा। इति। **॥ जय श्रीराधे ॥**

–मनोहरदास

वेणु विनोद कुंज, वृन्दावन

प्राक्कथन

हरि अनन्त हरि कथा अनन्ता के समान श्रीहरि के प्रिय जन संतों का चरित्र भी अनन्त है अथाह है। पूज्या संतोष बहिनजी व सरलाजी श्रीधाम में पंजाबी बहिनों के नाम से विख्यात रही हैं। यहाँ इन दोनों बहिनों का विशेष सम्मान बना रहा- यह दोनों सबके लिए सबकी प्रिय सबकी हितकारी बनी रही। इनमें से छोटी बहिन सरलाजी संतोष बहिनजी से कुछ ही साल पहिले अपनी जीवन लीला संपूर्ण कर अपने निजधाम में पहुँच चुकी थीं। संतोष बहिनजी के लिए प्राय: सबके मन में विचार आता कि सरलाजी के बिना इनका जीवनयापन कैसा होगा- सबकी उत्सुकता स्वाभाविक थी, संतोष बहिनजी की संपूर्ण दिनचर्या सरलाजी की सेवासुश्रूषा की तत्परता से ओतप्रोत थी- सरलाजी की दृष्टि के अभाव में बहिनजी का सेवा-सम्पादन। जैसे माँ अपने अबोध शिशु की निगरानी- लालन-पालन अपने तन-मन प्राणों के वात्सल्य से करती है- ठीक वही संलग्नता उनकी सरलाजी के प्रति रही। सरलाजी के जाने के बाद, संतोष बहिनजी का क्षण-प्रतिक्षण खाली न रहकर संतों-संतों के प्राणाधार अपने अभीष्ट के गुण-महिमा-कृपा-ममता के पठन-पाठन में व्यस्त रहा। यह उनकी सेवा अपने लिए- सफली करोति- सिद्ध हुई पूज्या संतोष बहिनजी की सेवा-उनके अन्तिम जीवन में, उनकी रुग्णावस्था में पूज्यपाद पोद्दारजी की कुल पाटली ''शालू'' ने संतोष बहिनजी के सेवा-सुश्रूषा धर्म का ही बहुत कुछ अनुसरण किया। वह महाभागा उनकी सेवा संसर्ग से धन्य हो गयी।

संतोष बहिनजी ने अपनी जीवन लीला पिछले वर्ष ३ अगस्त को संवरण की और जा पहुँची अपने अभीष्ट धाम में। उनके विचारों की उत्कृष्टता हिमालय को छूती सी, भावों की अगाधता समुद्र तल को स्पर्श करती सी- उनके कर्म-धर्म आश्चर्य परिपूर्ण बने रहे- इसमें अतिश्योक्ति

नहीं- संतों का जीवन ही एक आश्चर्य हैं ऊषा बहिनजी के नाते हमें भी बहुत समीप से उनका प्यार-दुलार भरा संसर्ग मिला- उन महाभागा की समीपता से हम भी कृतकृत्य हो गए।

आज उनका जीवन चरित्र प्रकाशित होने जा रहा है- जहाँ तहाँ से उनके जीवन की कुछ- बहुत कुछ घटनाओं का समुच्च्य संकलित हो कर पुस्तक रूप में हमारी बहिनजी हमें प्राप्त हो रही हैं।

इसमें सबसे बड़ी प्रेरणा परम आदरणीय मनोहर भैया की है- संकलन का भरसक प्रयास डा॰ निशा बहिन का है, इसमें सहयोगी हमारे सभी बहिन भाईयों ने अपनी हार्दिक श्रद्धा प्रकट की है।

श्रीहरि से पुनः-पुनः प्रार्थना याचना और कामना है पूज्या संतोष बहिनजी सदा-सदा इस पुस्तक रूप में हम सभी को अपने सुन्दर-मधुर-मृदुल विचारों से-भावों से-कर्म शृँखला से हमें पोषती-तोषती रहें।

उनकी स्नेहाभिलाषिणी–
सुशीला

अपनी बात

''रहगणैतत्तपसा न याति न येऽयया निर्ववणाद् ग्रहाद् वा।
नेच्छन्दसा नैव जलाग्नि सूर्यो बिना महत पाद रजोऽभिषेकम।।''

श्रीमद्भागवत महापुराण में जड़भरतजी राजा रहूगण से कह रहे हैं- ए राजन, महतजनों की पदरज से अभिषिक्त हुए बिना, तप, कर्म परोपकार व उपासनादि किसी भी साधन द्वारा तत्वज्ञान की प्राप्ति नहीं होती।

प्रहलादजी ने भी अपने पिता हिरण्यकशिपु से कहा था कि मानव मात्र की मति बिना संत पुरुषों की चरणधूलि के स्पर्श से श्रीभगवद् चरणों को स्पर्श ही नहीं कर सकती। भक्तों की महिमा को श्रीभगवान ने गीता में अर्जुन के प्रति कहा–

"ये मे भक्तजनाः पार्थ न मे भक्ताश्च ते जनाः।
मद् भक्तानाश्च ये भक्तास्ते ये भक्त तमा यताः।"

हे पार्थ, जो मेरे भक्तों के भक्त है वे ही मेरे सर्व उत्कृष्ट भक्त हैं।

पर श्री श्रीनरोत्तम दास ठाकुर ने तो अपनी प्रेमभक्ति चन्द्रिका में साधकों के लिए मूलमंत्र ही दे दिया।

''वैष्णव चरण रेणु, भूषण करिया तनु
जहा है ते अनुभव होय
मार्जनहय भजन साधु संगे अनुक्षण
अज्ञान अविद्या पराजय''

वैष्णवों की चरणधूलि से अपने तन को अलंकृत कर, इससे सहज ही अनुभव अभिज्ञान हो जाता है। साधु का क्षणांश का संग भी भजन को मार्जित करता है, अज्ञान अविद्या को विनिष्ट करता है।''

वस्तुतः सत्य तो यह है कि संत तो श्रीभगवान की जीवंत प्रतिमा है, प्रकट कल्पतरु हैं। पर विशुद्ध संत का मिलना सहज ही नहीं होता। ''बिन हरिकृपा मिले नहीं संता।'' मुझ पर भी श्रीहरि की अहैतुकी कृपा हो गई। सन् १९८७ के नवम्बर मास का एक सुहावना दिवस था वह मैं अपनी सहकर्मी डा॰ ज्योति के साथ वृन्दावन आई हुई थी। पूज्या ऊषा बहिनजी उन दिनों बड़ी कुँज में रह रही थीं। उन्होंने मुझे नारंग बहिन के साथ सिंधी कालोनी एक संत महिला के दर्शनार्थ भेजा। रास्ते भर नारंग बहिनजी उन संत की आध्यात्मिक उपलब्धियों की चर्चा करती रहीं। जेहलम की ये भक्तिमती संत छोटी उम्र में ही वृन्दावन आ गई थीं। पिछले ४० वर्ष से श्रीधाम वास कर रही इन भक्ता की श्रीठाकुरजी से निरन्तर संलग्नता की, अनुभूतियों की बातें सुनकर मेरी श्रद्धा, जिज्ञासा और दर्शन-उत्कंठा बढ़ती जा रही थी। बात करते-करते हम उनके घर पहुंच गए।

दरवाजा उन्होंने ही खोला था। मेरे सामने एक गौर वर्णा, दुबली पतली, ऊंचा ललाट और भरे भरे नैंन लिए, सीधे पल्ले की श्वेत मोटी धोती में लिपटी एक आकर्षक विभूति खड़ी थी। यही वह संत श्रद्धेया संतोष बहिनजी थीं। बड़े स्नेह से वे हमें अन्दर ले गईं, और फर्श पर बिछी बोरी पर जा बैठीं। हम सामने ही बैठ गए। मेरा परिचय था ही क्या जो बताया जाता, पर ''बोबोजी ने भेजा है'' नारंग बहिन के मुख से निकले ये शब्द उसी क्षण ही मुझे उनके अपनत्व के घेरे में बांध गए। प्रणाम करने के प्रयास को असफल सा करती, मेरे दोनों हाथ अपने हाथ में ले, मधुर स्वर में बोलीं- ''छोटी बहना है, बहनें प्रणाम नहीं करती।'' दैन्य की मूर्ति पू॰ संतोष बहिनजी की तितिक्षा, अपनत्व और एकमात्र ठाकुर चर्चा ने इतना प्रभावित किया कि उनसे सदा के लिए नाता जुड़ गया।

तब तक वृन्दावन वास की कल्पना भी नहीं थी। श्रीधाम के प्रति आकर्षण अवश्य था, श्रद्धा भी थी पर अनन्य निष्ठा जैसी वस्तु का सर्वथा

अभाव था। एक दिन दिल्ली में संत गुरुमेल सिंह जी के सान्निध्य में बैठे थे। वहां की साधु सत्संग की इच्छा थी मैं बाबा जी की छत्र छाया में साधु संगत की चिकित्सा सेवा करूं। शायद मेरे मन के भी किसी कोने में ऐसी सेवा भावना छुपी थी। एक श्रद्धालु के ऐसा विचार प्रकट करते ही बाबाजी बोले– न, न डाक्टर पुत्त दी तार तां बिन्द्राबन नाल जुडी है। एह तां बिन्द्राबन ही जाएगी।'' संत जी के वचनों ने मानों मेरा वृन्दावन का मार्ग प्रशस्त कर दिया। संतों की कृपादृष्टि हुई, वृन्दाबनेश्वरी के करूणा-कण छलके और शीघ्र ही वृन्दावनवास का सुयोग बन गया। पू॰ संतोष बहिनजी का वह सम्पर्क अपनत्व में बदलता गया। उनकी छत्रछाया ये अधिक समय व्यतीत कर पाना संभव हो गया। लगभग १७ वर्ष की इस अवधि ये बहुत से भक्त चरित उनके मुख से सुने, संत वाणियां सुनीं, आध्यात्मिक कहानियां सुनी, साधना पथ की चर्चाएं सुनी.... जितनी पिपासा, तन्मयता से वे दिन रात पढ़ने में लीन रहतीं, उतने ही उत्साह, उमंग और उदारता से वे सुनाती भी। अक्षय भंडार था उनके पास, जो उनके श्रीमुख से झरित होता रहता था। उनका हर साधक को सुपात्र बना ठाकुर के योग्य बनाना किसी सुनियोजित कार्यक्रम के अन्तर्गत नहीं था। ये तो स्वभाववश किया गया कृपादान ही था, उनकी अमृतमयी छलकन थी। न कोई सम्प्रदाय, न कोई आश्रय, न कोई परिकर ..... पर वे सबकी अपनी थी, सब उनके थे। अहा ऐसा व्यापक चरित्र.... आश्चर्य होता है। जब इसी व्यापक चरित्र को लेखनीबद्ध करने का पू॰मनोहरदास बाबा का स्नेहरंजित आदेश हुआ तो मन बहुत ही संकोच में डूब गया।

महापुरुषों के जीवन आचरण पर कुछ भी कहने लिखने का प्रयास मात्र दुःसाहस है और उस पर पू॰ संतोष बहिनजी जैसी संत, जो सदा अपने को दीन हीन दर्शा, दैन्य के आवरण से जगत को भ्रमित करती रहीं, उनके चरित्र का शब्दांकन...उनकी उत्कृष्ट स्थिति के साक्षी पारखी पू॰ मनोहरदास

बाबा का ये आग्रह..... वस्तुतः संतों के सत्संग संकल्प क्षण में ही अपात्र को सुपात्र बना जाते हैं और तब सब दुःसाध्य कार्य सुसाध्य हो जाते हैं। मन में अग्रदासजी के वे शब्द गूंजने लगे जो उन्होंने नाभाजी को भक्तमाल लिखने के आदेश के समय कहे थे'' तुम जिस भक्त चरित को लिखोगे, वे स्वयं तुम्हारे हृदय में विराजित हो निज कथा का प्रकाश करेंगे।'' इन्हीं शब्दों से आश्वासित इस पावन कार्य को आरंभ करने का साहस जुटा पाई मैं। भक्तों के गुणों का स्मरण मनुष्य को प्रभु प्रीति का पात्र बना देता है, बस यही तथ्य इस जीवनी के कथ्य का आधार है। ये सम्पूर्ण जीवनी नहीं है। पिछले १७ वर्षों के उनके सम्पर्क में मुझ अपात्रा की दृष्टि, श्रवण, मन जो कुछ और जैसा ग्रहण कर सका, उसकी अभिव्यक्ति मात्र का प्रयास है। ''हरि अनंत हरि कथा अनंता'' की तरह संत चरित भी अगाध सिंधु की तरह होते हैं। हमारी उसमें गम्यता कहां, हम तो उस सिंधु में उठती कुछ लहरों मात्र के ही दृष्टा हो पाते हैं।

अति रंजना रहित यथार्थ जीवन चरित लिखना उसी व्यक्ति के लिए संभव है जो दीर्घकालीन तक उस संत विभूति के सामीप्य में, सान्निध्य में रहा हो या उन घटनाओं के साक्षी स्वरूप समकालिक व्यक्तियों से प्रमाणित सामग्री संग्रह कर सकें। सौभाग्य से पू.मनोहरदास बाबा, जो सन् १९४७ से ही वृन्दावन में पू.संतोष बहिनजी के सम्पर्क में आ गए थे और उनके बहुत ही आत्मीयजनों में रहे, ने ही अधिकांश प्रसंग लिपिबद्ध कराए। पू.सुशीला बहिनजी, जो पिछले ४० वर्षों से पू.संतोष बहिनजी की पू॰ऊषाजी व ठाकुरजी, के मध्य हुए कौतुकों की दृष्टा है, ने उन घटनाओं की अभिव्यक्ति कर इस जीवनवृत को सुदृढ आधारस्तंभ दिया। संतसेवी, भक्त चरणरज प्रीता पू.संतोष बहिनजी की संत दर्शन की ललक अनूठी थी सो इस इस जीवन चरित सलिला में उन सभी संत लहरियों के स्पर्श का सुअवसर भी सहज ही मिल गया।

वैष्णवों का मत है कि संत तो चिन्मय होते ही हैं, उनकी जीवनी भी चिन्मय होती है और संतों की तरह ही कल्पतरु होती है। उसी कल्पतरु की छत्रछाया में बैठ अपने इन गोपीजनवल्लभ और उनकी प्रियाओं को, सभी वैष्णवों को प्रणाम करती हुई मैं अपनी पूज्या संतोष बहिनजी को करबद्ध करती यही अनुनय करती हूँ-

मानस पटल पै मेरे
प्रकाशित हो जाए तव चित्रण
अवतरित हो लेखनी से
सुसार्थक भाव अंकण
मिलन त्वरा लिए निकलें जो
करो प्रेमपथ का आलोकन
सामर्थ्य दो ऐ श्याम प्रिये
कर सकें तुम्हारा अनुगमन।

.........अहा हा! उन महाभागा को धरा से गए लगभग एक वर्ष बीत गया। उनके अभाव ने किस को कैसे कैसे प्रभावित किया कहना बहुत ही मुश्किल है। पर मुझे तो इस पूरी अवधि में उनकी सरस स्मृतियों के संचयन और फिर उन प्रसंगों के शब्दांकन ने मानों उन्हीं के सुखद अंक में ही बिठा रखा था। और अब, जब ये जीवनी प्रकाशन के लिए परम पू॰ मनोहर दास बाबा के श्रीहस्तों में सौंप रही हूं तो एक सुखद वेदना का सा अनुभव हो रहा है।

उन महिमामयी के जीवन की अभिव्यक्ति में अनेकों त्रुटियां हुई होंगी। विषय के प्रवाह में कुछ घटनाओं को आगे पीछे वर्णन करना पड़ा, कुछ घटनाओं का विवरण विभिन्न व्यक्तियों से विभिन्न रूपों में सुन अन्ततः

पू॰ बाबा व पू॰ सुशीला बहिनजी का मन्तव्य ही प्रस्तुत किया गया है। लेखनी के इस पावन उत्सव में पू॰ संतोष बहिनजी कितनी जीवन्त हो पाई हैं ये तो पाठकगण ही निर्णय दे पाएंगे, पर सभी परिजनों व श्रद्धालुओं की भावाञ्जलियाँ निश्चय ही अनमोल हैं, और उनमें पू॰ संतोष बहिनजी को अद्वितीय व्यक्तित्व झलक मिलती है। मैं उन सभी आत्मीयजनों की इस अनुपम सहयोग के लिए आभारी हूँ। वे सभी पू॰बहिनजी के बहुत ही अपने हैं।

सर्वान्त में मैं सभी आत्मीयजनों के स्नेहपूर्ण सहयोग और सुझावों की आभारी हूं। विशेषत: पू॰ राजदुलारी बहिनजी, सुश्री विमला कपूर, सुश्री संतोष नारंग, सुश्री शशिकला मूले व सुश्री सरोज गुप्ता बहिन की। श्रीविशेशर भाई एवं श्रीविद्याधरजी सर्राफ का अथक परिश्रम भी बहुत ही प्रशंसनीय रहा है। वस्तुत: सभी ही इस पावन उत्सव में पूर्ण चित्तेन सम्मिलित रहे हैं।

विनीता –

निशा



"आराध्य युगल व शालिग्रामजी"



श्री संतोष बहिनजी

श्रीकृष्णानुरागिणी पू॰ सन्तोष जी

बाल्यकाल–

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था, वसुन्धरा पुण्यवती च तेन।
नृत्यन्ति स्वर्गे पितरस्तु तेषां, येषां कुले वैष्णव नामधेय:।।

वह कुल, जननी और वसुन्धरा पुण्यशाली है जहाँ किसी वैष्णव भक्त का जन्म होता है। इसके साथ-साथ वह काल देश और व्यक्ति भी धन्य हैं जिन्हें भक्तों से संबंधित होने का गौरव प्राप्त हो जाता है।

वैष्णव जगत में कार्तिक मास की महत्ता अतुलनीय है। स्नान व्रत, नियम, उपासना जैसे भजनांगों की परितृप्ति से भरे इन दिवसों में वैष्णवगण भक्ति भाव से भरे रहते हैं और पूर्णिमा आते-आते तो इन भावों की पराकाष्ठा ही हो जाती है.... अहा अमृतमयी वृष्टि से सराबोर ये दिनरात। सन् १९२३ की ऐसी ही पावन कार्तिक पूर्णिमा थी। प्रकृति के अद्‌भुत सौन्दर्य की झलक दर्शाते कश्मीर प्रान्त के जेहलम जिले में रह रहे, चौधरी गंगाराम और चानन देई के प्रांगण में चांदनी की उज्ज्वल किरणें पूर्णभक्ता संतोषजी का रूपधर प्रकट हो गईं। उधर पूरा शहर गुरु नानकदेवजी के प्राकट्य दिवस के समारोह में खुशी से झूम रहा था और इधर चानन देई गुरु साहब की दी हुई इस अनमोल कृपा को अपने अंक में समेटे हर्ष से विभोर हो रही थीं।

हृष्टपुष्ट, लालिमा लिए वर्ण की चंचल-चपल नेत्रों वाली इस नन्हीं बालिका ने सबका मन मोह लिया। इसकी शैशव सुलभ चेष्टाएं सबको असाधारण रूप से आकर्षित किया करतीं। माता-पिता के साथ-साथ, ये नन्हीं बच्ची बड़ी बहनों और भाई की बहुत ही लाड़ली थी। उन सबके प्यार से पोषित ये धीरे-धीरे बड़ी होने लगीं। समृद्ध-सम्पन्न परिवार था। माँ चानन देई सिक्ख परिवार से संबंधित थीं अत: घर में

भक्तिमय वातावरण था। सुबह-सुबह 'जप जी साहब का पाठ', 'सुखमनी साहब' का पाठ और संध्या को 'रहरासजी' का पाठ नित्य नियमपूर्वक से होता था, सो बाल्यकाल से ही इनमें भी नाम सिमरन और साधुसेवा की स्वाभाविक अभिरुचि थी।

पिता लकड़ी के ठेकेदार थे। श्रद्धावान और संतसेवी भी थे पर सम्भ्रान्त परिवारों में वैभव से उपजा एक अवगुण उनमें भी था। शराब का व्यसन भी उन्हें कुसंग से लगा हुआ था। मित्रों परिजनों के साथ समय ऐसे ही बीत रहा था। तभी कालचक्र इतनी तेजी से विपरीत दिशा में घूम गया कि ये स्तब्ध से रह गए, काल के क्रूर प्रवाह में एक-एक करके इनके चार बच्चे असमय ही बह गए। उनके बिछोह ने चौधरी गंगाराम को अन्दर तक झकझोर दिया। पड़ौस की एक वृद्धा, जिसे सब भुआजी कहते थे, शोक संवेदना प्रकट करने आई। अपने उग्र और बेबाक स्वभाव वश कह उठी; "चौधरी, तेरी शराब ही इन बच्चों को खा गई।" मर्माहत चौधरी साहब ये सुन, सकते में आ गए। इन दुःखद घटनाओं को ये झेल नहीं पाए और विक्षिप्त से हो गए। गम में डूबे चौधरी साहब संज्ञाहीन से पड़े रहते। न खाने की रुचि, न पहनने की सुधि.....समय मानों स्थिर सा हो गया।

इनकी ऐसी विक्षिप्त अवस्था से विचलित चानन देई का दिल रो पड़ता। नाम सिमरन, संत सेवा किसी में भी मन न लगता। एक दिन शहर से दूर घने जंगलों में रह रहे, एक सिद्ध पुरुष को ये कुछ पड़ोस की स्त्रियों के साथ प्रणाम करने गईं। दुखी मन से, संत जी से अनुनय विनय करती हाथ जोड़कर कहने लगी; "महाराज, एक बार मेरा घर अपनी चरणरज से पवित्र कर दो। बच्चों के जाने से मेरे पति बहुत ही आकुल-व्याकुल क्षुब्ध से रहते हैं। घर की अशान्ति ने मेरा सुख चैन छीन लिया है।" ये साधु महाराज पूर्ण ब्रह्मनिष्ठ और अलौकिक

योगसिद्ध पुरुष थे। सर्वत्र ब्रह्मदर्शन करते उन्मत्त से रहते। बस्ती में इनका जाना यदाकदा ही होता। चानन देई के बहुत प्रार्थनापूर्ण आग्रह करने से वे इनके घर आ गए।

नील पुंज झलक—

संतोष जी उस वक्त मात्र 6 वर्ष की नन्हीं बालिका थीं। पिता से जुड़कर बैठी एकटक इन्हें देखने लगीं। संतजी का तेजस्वी चेहरा, उनकी फकीरों वाली वेशभूषा, अन्तर्मुखी वृत्ति, कुछ ऊपर को चढ़ी हुई अधखुली-सी आँखें..... बहुत ही प्रभावशाली व्यक्तित्व था। उनके दर्शनमात्र से इनके मन में हलचल सी मच गई। शायद पूर्वजन्म की कुछ भूली बिसरी बातों से कड़ियां जुड़ने लगीं। संत जी ने अत्यन्त प्यार से चौधरी साहब के केशों को सहलाया, काफी देर तक उनके मस्तक पर हाथ धरे रखा। बहुत ही अल्प से शब्दों में मृत्यु की अटलता और मानव जीवन के लक्ष्य पर ध्यान देने को कहा। संतजी के उन वचनों ने चौधरी साहब के प्रज्ञा चक्षु खोल दिए और भावावेश की अधिकता से वे मूर्च्छित हो गए। साधु महाराज तो चले गए पर नन्हीं संतोष दिन रात पिता की सेवा करती इनके पास बैठी एकटक इन्हें निहारती रहती कि कब ये नयन खोलें और उन संत के कथनानुसार वह इन नयनों में उस शाश्वत परम तत्व की झलक देख सकें। पिता की ये खूब सेवा करतीं। उनके केशों में कच्चा दूध डालकर धोतीं। अपने नन्हें-नन्हें हाथों से रोटी के छोटे-छोटे टुकड़े कर उनके मुंह में डालतीं। सेवा की प्रतिमूर्ति पू.संतोषजी की ये सेवा-साधना का रूप बाल्यकाल में ही प्रदर्शित हो गया था। वह बिना किसी प्रमाद के, लग्न से वह सेवा में जुटी रहीं। उनकी उत्सुक खोज भरी निगाहें पिता के चेहरे पर लगी रहती। उस परम तत्व की झलक उन्होंने पिता की आँख खुलते ही पा भी ली। उन्हीं के शब्दों में 'एक नीलप्रकाश पुंज केवल कुछ क्षणों के लिए

उनकी आँख खुलते ही दिखाई दिया। अहा! कैसी चमक थी, आँखें चौंधियाने लगी थीं।' शायद यही इनकी प्रथम दिव्य अनुभूति थी। तत्पश्चात् पिता तो संत स्वरूप ही बन गए। उनके जीवन में मूलभूत परिवर्तन हो चुका था। मुख से सदैव नारायण-नारायण उच्चारण करते। उनके लिए समग्र विश्व नारायण स्वरूप हो गया था। दोस्त भी नारायण, पत्नी भी नारायण, बेटी भी नारायण..... यहां तक कि पशु पक्षी भी नारायण। अब ऐसे पिता के प्यार भरे संरक्षण में पोषित होने लगीं पू॰संतोष जी।

मोहन-मोहिनी–

एक दिन पू॰ संतोषजी घर के पास ही स्थित मन्दिर में गईं। यहाँ प्रभु के विभिन्न रूपों में बड़े ही सुन्दर श्रीविग्रह थे। अपरिमित सौंदर्य की खान ठाकुर श्यामसुन्दर के दर्शन करते ही ये विमुग्ध हो गईं। उस मोहिनी के वशीभूत ये अपनी सुधबुध खो बैठीं। अपनी तन्मयता में ये ठाकुरजी के साथ ही विराजित किशोरी जू को देख ही न पाईं। श्यामसुन्दर की बांकी छटा ने इन्हें बौरा सा दिया। आंख बंद करतीं तो ठाकुर मन में झांकते, आँख खोलतीं तो समक्ष प्रकट। भाव दृष्टि में, रोम-रोम में ठाकुर समा गए। विचित्र सलोनी सी स्थिति थी इनकी। उस भावभीनी स्थिति में ये घर आ गईं। (निश्चय ही ये ठाकुर से जीवन्त साक्षात्कार ही था। बातचीत करते हुए, मुझे ये प्रसंग सुनाते हुए, उन्होंने निज मुख से स्वीकारा भी था। हां, शब्दों का चयन कुछ और किया था) उन दिनों ये एकदम जड़वत् हो गईं। गुमसुम सी पड़ी रहतीं। अपलक कुछ निहारती रहतीं मानों इस लोक में उनकी उपस्थिति ही न हो। उस अवस्था में ये कुछ भी खा नहीं सकती थीं। सभी परिजन हैरान परेशान से हो गए। पिताजी इन्हें बहुत प्यार करते थे। वे ही कभी-कभी गोद में ले दूध के कुछ घूंट इन्हें पिला देते थे। अक्सर

तिमंजिले पर छत पर ही बैठी रहतीं। आँखें झरझर बहती रहतीं। धूप, आंधी, वर्षा, कुछ भी न इन्हें भासता। पिता ममतावश दो चारपाइयां खड़ी कर, उस पर चादर डाल, छाया कर जाते। पू॰संतोषजी कान में रूई डाले रखतीं ताकि बाहर की कोई चर्चा कहीं कान में न पड़ जाए। उन्हीं के शब्दों में "नाम सिमरन का जो सुख तब हुआ, उसके बाद जीवन भर न हुआ। नाम में डूबना क्या है, तभी जान पाई थी। वस्तुतः "नाम वियोगी न जिए, जीए तो बऊरा होय" ये कहते हुए उनके चेहरे से अलौकिक भाव प्रकट हो रहा था। लगभग आठ महीने ऐसी ही अवस्था में वे डूबी रहीं।

एक दिन कान में रूई डालना भूल गईं। पड़ोस की छत पर किसी की परस्पर बातचीत सुनाई दी– "मन्दिर में ठाकुर दर्शन को चलें।" ये शब्द सुन, ये अपनी बेसुधि से उबर, सोचने लगीं- "आह मुझे तो दर्शन किएं मानों युग ही बीत गए।" और ठाकुर दर्शन की ललक से भावित ये यंत्रवत् नीचे उतरीं। पिताजी ने इन्हें सीढ़ियों से नीचे उतरते देखा तो प्रसन्न हो उठे। ये धीरे-धीरे पग धरती मंदिर चली गईं। इनकी अर्द्धबाह्य दशा देख पिता भी पीछे-पीछे ही मन्दिर चल दिए।

मन्दिर के इन श्रीविग्रह के प्रति श्रीसंतोष जी का अद्भुत प्रणय भरा भाव था। ठाकुरजी से उनकी संलग्नता इतनी प्रगाढ़ थी कि हरपल वे उन अनुभूतियों से ओतप्रोत रहतीं। २३ मई १९९६ को एक बहन को अपने बचपन की स्मृतियां बताते हुए कह उठीं– "बचपन में जेहलम मंदिर के युगल स्वरूप को ही जानती थी। एक बार स्वप्न में देखा वे कक्ष से बाहर आ रहे हैं। मैं भी वहां पहुंच गई। इतने में वे अन्दर जाने लगे। मैंने कहा– 'मुझे देखकर भी अन्दर जाओगे? मेरा आना तुम्हें अच्छा नहीं लगा?' यह सुनकर वे फिर बाहर आ गए। मैंने दोनों चरण पकड़ लिए और श्रीठाकुरजी से कहा– 'सुना है तुम्हारी माया बहुत प्रबल है। वह जिसको घेर लेती है वह फिर उसी में बंध

कर तुम्हें भूल जाता है। तुम वचन दो कि मुझे तुम्हारी माया कभी न बांधे।' उन्होंने सिर हिला दिया जैसे उन्होंने मेरी बात सुनी और उसको मान लिया। बचपन में मन बिना प्रयास उन्हें पकड़ता था, उनको अपना मानता था। बस यही एकमात्र अपने लगते थे।

अपने इन एकमात्र, अपने लगने वाले श्रीठाकुरजी के प्रति उनका मन उमड़ा ही रहता। एक बार सर्दियों में इनके लिए संतोषजी ने ऊन के वस्त्र बुने। मन्दिर में पुजारीजी ने वस्त्र धारण करा दिए। जब ये दर्शन करने गईं तो इनके कान में मीठी-सी आवाज आई "और मेरे लिए नहीं बनाए" इनकी दृष्टि उधर उठी; देखा, श्रीराधाजी.....! महीनों से मंदिर में दर्शनार्थ आ रही थी, पर आज किशोरीजी के ध्यानाकर्षण से इन्हें पता चला कि श्यामसुन्दर के साथ किशोरी राधाजी भी हैं। अहा, दर्शन करने के समय की तन्मयता की अनूठी मिसाल हैं, पू॰संतोषजी। ठीक अर्जुन के लक्ष्य बेंधने के समय की चिड़ियां की आंख के काले बिंदु के एकाग्रता के समान....। ऐसी एकाग्रता, ऐसा मन का जुड़ाव निश्चय ही उनके असाधारण व्यक्तित्व का प्रमाण है। इस तन्मयता पर किशोरी राधिका का रीझना स्वाभाविक ही था। इसीलिए कुछ दिनों के बाद जब वे जरी के बहुमूल्य कपड़े युगलवर के लिए बनाकर ले गईं तो प्यारी जू कह उठीं– "पहले तू पहन के दिखा" और इन्होंने भी झट लहंगा अपनी कटि से लगाकर उन्हें दिखाया। किशोरी जू के चेहरे पर अद्वितीय प्रसन्नता भरा भाव था। पुजारीजी भी आश्चर्य से इस नन्हीं बालिका के इस कौतुक पर आश्चर्य मुग्ध थे। भक्ति रस के पारखी पंडितजी ने वे वस्त्र युगलवर को अगले दिन ही धारण कराए।

ठाकुरजी की इस प्रीति संबंधी अनुभूतियों ने इनमें सतत सान्निध्य की लालसा जगा बावरा सा बना दिया। विरह उन्माद की दशा में ये अकेली जंगलों में घूमती रहती थीं। एक दिन ये एक संत को

प्रभु दर्शन करा देने की याचना करते-करते व्यग्र हो उठीं और उनके पीछे-पीछे ही जंगलों में जाती रहीं। निर्भीक और धुन की पक्की तो थीं ही। उन संत ने जब इस तरह अपने पीछे इस नन्हीं बालिका को आते देखा तो प्यार से समझाया और वापस घर लौट जाने को कहा। ये थोड़ी देर रुकीं और फिर उनके पीछे-पीछे चल दीं। इस पर वह संत रुष्ट हो गए। जैसे ही उन्होंने पीछे की ओर मुड़कर देखा तो उनकी ओर से खूब ताप लिए हवा का झोंका संतोषजी की ओर लपका मानों आग की लपटें हों.... इन्हें कुछ दिखाई तो नहीं दिया पर ये रुक गईं। वाणी का इन पर प्रभाव न होते देख, उन महात्मा को इनसे पीछा छुड़ाने का शायद यही उचित उपाय सूझा। थोड़ी देर बाद ये वापस लौट आईं।

प्रभु मिलन की पिपासा में ये जंगलों में ही नहीं, कभी-कभी श्मशान की तरफ भी निकल जाती थीं। समय असमय का ध्यान भी बेसुधि में कहां रह पाता था। एक दिन संध्या को ये उधर ही निकल गईं। अचानक इनका पांव जलती राख पर पड़ गया। इन्हें तो कुछ भी आभास न हुआ पर किसी की आवाज कानों से टकराई "किसी के ऊपर पांव रखकर चलना ठीक नहीं।" ये चौंकीं, चारों ओर दृष्टि उठाई। कहीं कोई दिखाई नहीं दिया फिर नीचे की ओर जो देखा तो क्षोभ से भर उठीं। पूछा- "कौन हो आप, मेरा अपराध क्षमा करो।" आवाज़ आई- "आपके चरण स्पर्श से मैं मुक्त हुआ- पर चलते हुए सावधान रहना चाहिए।" ये विनय से हाथ जोड़े-जोड़े घर वापस आ गईं।

इनके घर से काफी दूर घने जंगलों से परे जेहलम नदी बहती थी। अपनी उसी प्रभु प्रेम की त्वरा से उन्मादित अवस्था में ये एक बार अर्धरात्रि को बारह बजे सुनसान बीहड़ वन को पार करती नदी में कूद पड़ीं। पहाड़ी जंगली बस्तियों में वैसे भी रात जल्दी हो जाती है। सभी अपने घरों में ही सिमटे बैठे रहते हैं। यहां जेहलम के तट पर सिवाय नदी की कलकल ध्वनि के, चारोंओर निःस्तब्धता छाई रहती है।

अर्धरात्रि को इनके अनायास नदी में कूदने का किसी को पता ही क्या चलता, पर ये क्या!! एक कोमल से हाथ ने इन्हें चुपचाप..... तट पर ला, लिटा दिया। ये वापस घर तो आ गईं पर उसी भावदशा में कई दिन डूबी रहीं। उस वक्त की उनकी मनोदशा और कौतुक रहस्य को समझ ही कौन सकता था। ये उस विरह उन्माद से उबर ही नहीं सकीं। कुछ दिन बाद उन्हीं भावों के वशीभूत हो फिर जेहलम नदी में इन्होंने छलांग लगा दी। क्या ही सुखद आश्चर्य, पिछली बार की तरह इस बार भी किसी कोमल हस्त का स्पर्श इन्हें पुलकित सा करता तट पर बिठा गया। अर्धरात्रि में इस तरह का कौतुक उनके अंग-संग डोलने वाले सांवर किशोर के सिवा और हो ही किसका सकता था। पर सिर्फ स्पर्श आभास से ये क्या तृप्त होतीं? समक्ष साक्षात् दृष्टिगोचर हो, कब मन की साध पूरी करेंगे, इसी विचार से याचना करती ये घंटों मंदिर में ही बैठी रहतीं।

शालिग्राम प्राप्ति–

उसी मन्दिर में जो पंडितजी थे, अच्छी उच्च स्थिति के भक्त थे। वे पूज्य करपात्रीजी के सहपाठी रह चुके थे। अक्सर मौन ही रहते थे पर चतुर्मास की सम्पन्नता पर कार्तिक मास में ये कथा कहा करते थे और पूरे नियमों से सभी श्रद्धालुओं को भी व्रत, स्नान, पूजन, अर्चन और नितनेम करने को कहते। संतोष जी ने भी इस छोटी सी उम्र में बहुत ही श्रद्धा निष्ठा से पूरे कार्तिक मास स्नान पूजा अर्चन किया। पूर्णिमा के दिन पंडितजी को व ठाकुरजी को प्रणाम कर कह उठीं– (उनका जन्मदिवस भी कार्तिक पूर्णिमा का ही था) ''पंडितजी, आपने जैसे जैसे कहा था, मैंने सब नियम पालन करते हुए पूरा मास पूजा अर्चन में बिताया। पर मुझे तो ठाकुर मिले नहीं'' उलाहना सा देते हुए जैसे ही इन्होंने प्रणाम करने को ठाकुर के समक्ष शीश झुकाया कि

इनका शीश किसी ठोस वस्तु से जा टकराया। सिर उठाया तो देखा शालिग्राम जी। पंडिजी ने भी देखा, शालिग्रामजी ही थे। पर यहां कैसे प्रकट हो गए ये रहस्य उन्हें भी समझ में न आया। इन भक्त बालिका पर प्रभु की रीझ देख विस्मय से वे कभी श्रीविग्रह को देखते, कभी शालिग्राम जी को और कभी संतोष जी को। अन्ततः शालिग्राम जी को संतोषजी की हथेली पर धर तुलसीपत्र सहित उन्हें सौंपते हुए कहा–

शालिग्रामो महाविष्णुः तुलसी श्रीर्न संशयः,
अतोवासित पानी यैः स्नाप्य चंदन चर्चिते।
मंजरीभिर्युतं देवं शालिग्राम शिला हरिम्,
तुलसी सम्भवामिश्व कृत्वा कामानवाप्नुयात्।।

'चंदन चर्चित सुगंधित जल से तुलसी मंजरी सहित शालिग्राम शिला रूप श्रीहरि को जो स्नान करा तुलसी की मंजरियों से उनका पूजन करता है, उसकी सम्पूर्ण कामनाएं पूर्ण हो जाती हैं।'

पूजा की विधि समझाते हुए बोले–''बेटी, जल से स्नान करा, फूल से सेवा कर दिया करना। श्रीहरि के इस अद्‌भुत प्राकट्य से श्रीसंतोष जी विह्वल हो उठीं। प्रार्थना में कितना बल है, ये उन्होंने साक्षात् अनुभव कर लिया था। इस तरह कार्तिक पूर्णिमा केवल उनका जन्मोत्सव न होकर, श्री ठाकुर जी का प्राकट्य दिवस भी बन गया। कार्तिक मास की इस पूजा अर्चन की झलक उनके जीवन में अंत तक देखने को मिली। बड़ी ही श्रद्धा से वे शालिग्राम जी को तुलसी जी के गमले में पधराकर उनकी परिक्रमा करतीं दीपदान करतीं। अस्तु, पंडितजी से शालिग्राम लाकर इन्होंने उन्हें एक सुन्दर डिबिया में विराजित कर दिया। रोज नियमपूर्वक श्रद्धा भक्ति से यथासंभव सेवा भी करतीं। इनकी मग्नता बढ़ती जा रही थी पर एक दिन अनायास व्यवधान आ ही गया। इनके पिताजी काफी बीमार थे। ये सारा दिन

बहुत ही व्यस्त रहीं और शालिग्राम जी की सेवा भूल सी गईं। शालिग्राम जी अलमारी में ही बंद रह गए। न जल चढ़ाया, न पुष्प चंदन। जब ध्यान आया तो अपने पर बहुत ही क्षोभ हुआ। झट अलमारी खोली तो परम आश्चर्य.... शालिग्राम जी लोप हो चुके थे। दिव्य अलौकिक चीजें जैसे प्रकट होती हैं, वैसे ही कौतुक से अदृश्य भी हो जाती हैं। इनकी व्याकुलता की सीमा न थी। पश्चाताप में डूबी पू.बहनजी अपनी असावधानी पर निरन्तर क्षमा मांगती रहतीं। बहुत दिन ऐसे ही शालिग्राम जी के विरह में बीत गए। अन्ततः संतोष जी की विकलता से ठाकुर को पसीजना ही पड़ा। उन दिनों वह रोज मंदिर में फूलों की माला गूंथकर ठाकुर को पहनाती थीं। एक दिन अस्वस्थ होने की वजह से फूल झोली में भरकर घर ले आईं। मन भीगा-भीगा सा तो रहता ही था। उसी भाव में माला पिरोने लगीं। क्या ही विचित्र संयोग, फूलों के मध्य शालिग्रामजी......अविश्वसनीय सा लगा इन्हें। दौड़ती हुई पंडितजी के पास पहुंचीं कि शायद ये शालिग्रामजी मंदिर के हों या माली के हों या... इसी 'या' में उलझी जब मन्दिर पहुंचीं तो पंडितजी भी ये कौतुक देख हैरान हो गए। इनकी उच्च प्रेममयी दशा से वे परिचित ही थे। मन ही मन इन्हें प्रणाम कर, शालिग्राम जी इन्हें लौटा दिए। माली मुस्लिम था और मन्दिर के सेव्य ये थे नहीं... निश्चय ही इनकी प्रार्थनाओं पर द्रवित हो शालिग्राम जी फिर प्रकट हो गए थे। इस असंभव सी घटना ने संतोषजी के भावों को झकझोर, मन की विह्वलता को और उद्दीप्त कर दिया।

इनके शालिग्रामजी के कौतुकों को समझ पाना सहज नहीं हैं। पू.संतोष बहिनजी नित्यधाम पधारने के समय सेवा का अधिकार अपने भांजे कृष्ण कुमार (कुक्कू) को सौंप गईं। उस पर उनका अत्यधिक स्नेह था, रक्त संबंध से नहीं, उसकी सरल श्रद्धाजनित सेवा पर रीझ

उठती थीं वे। अध्यात्म के नाते, उसके वृन्दावन के प्रति झुकाव के नाते पू॰ बहिनजी का स्नेह उसके प्रति उमड़ पड़ता था। कुक्कू ने भी सोचा था कि वह नौकरी छोड़, वृन्दावन में उनके दिए पैसों से फ्लैट खरीद ठाकुर सेवा करेगा। मन में ये सब आयोजन बन ही रहे थे पर इस सबमें समय लगता। शालिग्राम जी मात्र 3 दिन के लिए लखनऊ गए जरूर, पर शीघ्र ही श्रीधाम में फिर आ विराजे। पू.बहिनजी के वंश की ही एक युवती पावन कौर से तीन महीने सेवा ली। कानपुर में अपनी गृहस्थी छोड़, श्रीधाम में रह पावन कौर ने तन, मन, प्राण से सेवा की। कुक्कू उन्हें तीन महीने के लिए ही वृन्दावन लेकर आए थे। विधि का विधान, पूरे तीन महीने बाद पावन कौर तो वापस कानपुर अपने परिवार में चली गई पर शालिग्राम जी की सेवा कुक्कू कर नहीं पाए। शायद सेवा के संकल्प से ही ठाकुरजी उस पर इतना रीझ गए कि उसे अपने नित्य धाम बुला लिया। शालिग्राम जी के इस कौतुक भरे कृत्य की थाह पाना असंभव सा ही है। उसके बाद शालिग्राम जी ने पू॰ ऊषाजी की कृपापात्रा शिष्या रासमंडल में रह रही संतोष नारंग की श्रद्धा और निष्ठा से भरी सेवा स्वीकार की।अस्तु।

अध्ययन–

माता-पिता के स्नेह भरे लालन-पालन से सिंचित ये बालिका जैसे-जैसे बड़ी हो रही थी, उसके दिव्य सद्गुण उजागर होते जा रहे थे। विद्या अध्ययन के लिए इन्हें गांव के ही स्कूल में भेजा गया। ये पांचवीं कक्षा तक पंजाबी पढ़ीं और फिर गुरुकुल आर्य स्कूल में आठवीं तक पढ़ीं। निश्चय ही इनकी गणना मेधावी और कुशाग्र छात्राओं में थीं उसके साथ ही उनके अन्दर प्रभु प्रेम की प्रज्ज्वलित आभा की दीप्ति इनके चेहरे पर झलकती थी। सादी वेशभूषा, सात्विक आहार, निश्चयात्मक बुद्धि, अन्तर्मुखी वृत्ति... बहुत ही आकर्षक चरित्र था। छात्राओं में ये अग्रणी रूप में ही प्रख्यात थीं।

सन् १९४२ की बात है। राष्ट्रपिता महात्मा गान्धी स्वाधीनता प्राप्ति के संग्राम के जनजागरण हेतु जेहलम पहुंचे। उनका भव्य स्वागत किया गया। जेहलम की जनता उनके दर्शनार्थ उमड़ पड़ी। स्कूल की छात्राओं के साथ सन्तोष जी भी उनके दर्शनार्थ और प्रवचन सुनने वहाँ पहुंचीं। उत्साह और उमंग से सभी लड़कियां वहां पहुंच गईं। भीड़ में घिरी संतोषजी भी उचक उचक कर दर्शन करने लगीं। एकटक मंच की ओर देखती ये तन्मयता से बापू के वचन सुन रही थीं। सत्य और अहिंसा के पुजारी महात्मा गान्धी "सादा जीवन उच्च विचार" को लक्ष्य कर खादी पहनने की उपयोगिता पर बल दे रहे थे। मंत्रमुग्ध-सी संतोषजी उनका एक-एक शब्द श्रवण ही नहीं कर रही थी, अपितु अन्तर आत्मा तक सहेजती जा रही थीं। कोमलमना का द्रवण तो आध्यात्मिक उत्कृष्टता के कारण पहले से ही था। इसीलिए इन प्रभावशाली वचनों ने इन्हें झकझोर दिया। आवेश में ये भीड़ को चीरती हुई सीधी स्टेज पर पहुंच गईं और सबको पार करती गद्गद कंठ से 'बापू......बापू.....' कहती गान्धीजी की टांगों से जा लिपट गईं। स्नेहाभिभूत हो उन्होंने हाथ पकड़कर उठाया और वात्सल्य भरे स्वर में बोले –"बेटी क्या चाहिए तुझे।" आप बोलीं–"मुझे मेरे योग्य ही कुछ देदो" और गान्धीजी ने उन्हें राम नाम, सत्य पालन और खादी धारण करने का आदेश दिया। तब से ये उनके तीनों वचनों का आदेश पालन करती रहीं।

घटनाक्रम परिवर्तित हो रहा था। नवमी कक्षा के लिये इंग्लिश पढ़ना आवश्यक था जिसे पढ़ने की इन्हें तिल भर भी रुचि नहीं थी। विदेशी भाषा पढ़ने की अनिच्छा का कारण संभवतः इनका देश प्रेम ही था और इस तरह इनकी विधिवत् स्कूली शिक्षा की इति हो गई। वैसे भी आप जगत में अध्यात्म की जिन ऊंचाइयों की उड़ान भरने आई थीं, उस साम्राज्य में गहराई तक डूबने के लिए किन्हीं विद्यालयों की

डिग्रियों की आवश्यकता कदापि नहीं थी। पर आपको पढ़ने का बहुत ही शौक था जो इनके जीवन में अंत तक देखने को मिला। आपकी मेधा शक्ति इतनी थी कि भक्ति पथ के सभी सम्प्रदायों के ग्रन्थों में इनकी अद्भुत गम्यता थी। अध्ययन एक प्रकार से इनका व्यसन-सा ही था और धृति इतनी असाधारण थी कि वर्षों पहले पढ़ी बात को भी वे उन्हीं शब्दों में ज्यों की त्यों अभिव्यक्त कर देतीं। उन दिनों इनके घर में एक विधवा अध्यापिका रहती थी। ये उनकी अलमारी से निकालकर सब किताबें पढ़ जातीं। मुख्यतः गीताप्रेस से प्रकाशित कल्याण के विशेषांक व अन्य भक्तिग्रन्थ ही थे। इस तरह इनके मन में पूज्य हनुमानप्रसादजी (भाईजी) के लिए एक विशिष्ट श्रद्धामय स्थान बन गया जो समय के अन्तराल से पू॰भाईजी व राधा बाबा के प्रति अगाध निष्ठा बना। चरित्र गठन और अध्यात्म की नींव सुदृढ़ करने वाले उस साहित्य को इन्होंने मात्र रुचि से पढ़ा ही नहीं, अपने जीवन में पूर्णतया आत्मसात कर लिया था। करुणा, दया, त्याग, वैराग्य और सेवा की ये प्रतिमूर्ति ही थीं।

सहज ऐश्वर्य–

जेहलम में ये मुस्लिम मुहल्ले में रहती थी। इनके पिताजी के एक मित्र थे जिन्हें ये चाचा कहकर पुकारती थीं। वे भी इनसे बहुत स्नेह रखते थे, पर प्रभु पथ से विमुख, अवगुणों से भरा जीवन व्यतीत कर रहे थे। जब बीमारियों ने आ घेरा और सबको उनकी अलविदा का आभास-सा होने लगा तो सभी सम्बन्धी पलायन-सा करने लगे। संतोष जी उस समय मात्र १३-१४ वर्ष की बालिका थीं। अपने स्नेही चाचा को मरणासन्न देख, उनका मन करुणा से भर गया और उनके उद्धार का संकल्प सा कर, उनका शीश अपने अंक में धर, उन्हें मुक्ति दिलाने को प्रयासरत हो गईं। ममतामयी जननी-सा प्यार उड़ेलती

संतोषजी बार-बार उनसे भगवान का नाम लेने का आग्रह करने लगीं। बार-बार कहें– ''चाचा! बोल अल्लाह, बोल रब.....'' पर जिसने जिन्दगी भर प्रभु को याद किया हो, हर पल हरि सिमरन में बिताया हो, उनके मुख से भी अंत समय भगवान का नाम बड़ी मुश्किल से ही निकलता है, तो फिर इन नास्तिक मुस्लिम चाचा का तो जिन्दगी भर खुदा से कोई वास्ता ही नहीं था। मुख से 'अल्लाह' निकलता ही कैसे? पर ये भी धुन की पक्की थीं। उसकी वृत्ति भगवान में लगाती हुई, उसे झँझोड़ती हुई जोर-जोर से कह उठी– .''चाचा! बोल अल्लाह, बोल खुदा, चाचा कुछ तो बोल......'' उधर वह अन्तिम सांसें ले रहा था, इधर संतोषजी अपनी बुलन्द आवाज से रामनाम की धुन लगा, उसकी वृत्ति प्रभु की ओर लगाने में संलग्न थीं। पूरा वातावरण रामनाम से गुंजायमान-सा होने लगा। क्या ही सुखद आश्चर्य! जैसे ही इन्होंने गंगाजल उनके मुख में डाला तो वो कह ही उठा– रा....म..... और अन्त समय में निकला ये हरिनाम उसे किस उत्तम लोक में ले गया होगा, ये किसी के लिए भी संशय का विषय नहीं हो सकता।

उनके इसी आध्यात्मिक ऐश्वर्य की झलक बरेली में रह रही इनकी प्रिय सखी पद्मा ने १९७८ में निर्मला शर्मा को इन शब्दों में दी। ''जन्मजात सिद्ध हैं संतोषजी। क्या कहूँ, मेरी तो वे जीवनदाता ही हैं। ये प्राण उन्हीं के दिए हुए हैं।'' और जेहलम में घटित ये घटना सुनाई। उन्हीं के शब्दों में –

जेहलम में मैं इनके पड़ौस में रहती थी। इनको अक्सर छत पर बेसुध अवस्था में देखती थी। मन सहज ही इनकी ओर आकर्षित रहता। दोनों के घरों की छत पास-पास ही थी। इनकी उस वक्त की दशा को मैं समझ तो नहीं पाती थी पर इन्हें निहारते रहना मुझे अच्छा लगता था। इनसे सहज स्नेह-सा हो गया था। एकबार मैं बहुत ही बीमार पड़ गई। रात का समय था। मेरी हालत बिगड़ती गई। एकदम मरणासन्न हो

गई। सभी सगे संबंधी आशा छोड़ चुके थे। संतोषजी मेरी चारपाई के पास आकर बैठ गई थीं। मेरे प्राण कंठ तक आ चुके थे। इनका हाथ मेरे शीश पर था। इतने में मुझे दो यमदूत सीढ़ियों से ऊपर आते दिखाई दिए। मैंने सोचा, अब तो इस जीवन की लीला समाप्त..... भयभीत भी थी। पर वे दोनों आकृतियाँ दहलीज पार नहीं कर पा रही थीं। तभी उनमें से एक ने अंगुली से संतोषजी की ओर संकेत कर कहा –''बैठी हैं.....'' कुछ देर वे वहीं खड़े रहे और फिर अचानक ही मुड़कर वापस चले गये...... थोड़ी देर बाद मुझे नींद आ गई।''

ये विवरण सुना पद्माजी ने संतोषजी की महत्ता दर्शा, हम पर महान् उपकार किया है पर अपनी इस विशिष्टता को सुन, निर्विकार-सी प्रतिक्रिया करते हमें भ्रमित-सा करते हुए पू॰ बहिनजी ने इतना ही कहा–''मुझे तो कुछ याद नहीं है'' पर जिन पर कृपा हुई होती है उनकी स्मृतिपटल पर छाप बहुत गहरी होती है। ये भुक्तभोगी पद्मा बहिन पू॰ संतोषजी के चमत्कारिक ऐश्वर्य को यादकर आज भी भाव विभोर हो जाती हैं।

परदुःखकातरा संतोषजी का मन मनुष्यों के लिए ही नहीं, प्राणी मात्र की व्यथा से द्रवित हो जाता था। जेहलम में ये एक बार बाज़ार से जा रही थीं। सड़क पर एक बैलगाड़ी वाला खूब सारा सामान लादे जा रहा था। बैल के कंधे से खून बह रहा था। पू॰ संतोषजी का मन करुणार्द्र हो उठा और बड़ी ही निर्भीकता से गाड़ी के आगे हाथ फैलाए सड़क पर खड़ी हो गईं। उस गाड़ीवाले को फटकार लगाती हुई उसे धमकाने लगीं– ''सामान उतार...... बोझ कम कर इसका......।'' भीड़ इकट्ठी होने लगी। बैलगाड़ी वाले को सड़क के एक ओर सामान उतारना पड़ा। ये बैल के कंधे से टपकते खून को देख विचलित हो उठीं। हाथ जोड़कर ठाकुर से प्रार्थना करने लगीं– ''ठाकुर इसे अपनाओ। इसके कष्टों का निवारण करो। बोझ ढोने

वाली इस जून से मुक्त करो.....'' प्रार्थना में जुड़े हाथ, बुदबुदाते ओठ, बंद आँखें प्रभु की ओर जुड़ी वृत्ति..... सब आश्चर्य से मुग्ध हुए इस बालिका को देख रहे थे। कुछ ही क्षणों में बैल की इहलीला समाप्त हो गई। अंत समय में संत दर्शन से ही संभवतः उसके सब प्रारब्ध कट चुके थे,फिर उस निर्मल मन की प्रार्थना से उसके उद्धार में संशय कैसा?

'बालसंत' उपाधि–

पर इन सब उद्धार की घटनाओं के पीछे सिर्फ निस्वार्थ भावना थी। सहज स्वभाव था। वस्तुतः तो वे हरपल प्रभु प्रेम में पगी हुई थीं। सदैव अन्तर्मुखी सी ही रहतीं। मंदिर में घंटों ठाकुरजी के समक्ष एक आसन पर बैठी टकटकी लगाए उन्हें देखती रहतीं, पर संतृप्ति कहीं नहीं थी। सत्संग और साधुसेवा में मन को डुबोए रखतीं तो थोड़ी शान्ति सी मिलती। संत दर्शन का लोभ ही इन्हें लाहौर के वार्षिक सत्संग सम्मेलन में जाने को प्रेरित करता पर अन्तर्जगत में डूबी इनकी आंखें अधमुंदी सी रहतीं। संतों के दर्शन इन्होंने किये या नहीं, पर इनकी उच्च भगवद् स्थिति को देख, वहाँ श्रद्धालु भक्तगणों ने इन्हें 'बालसंत' की संज्ञा जरूर देनी शुरू कर दी। इनके त्याग, वैराग्य और विरह उन्मादित अवस्था ने इन्हें सबका आकर्षण केन्द्र सा बना दिया। वहीं उपस्थित– मजीठे वाली श्यामा माताजी, भक्तवर संकीर्तन प्रेमी द्वारिका सिंह जी, पूज्या श्रीधर्मजी व उनका परिकर, सभी साक्षी हैं इनकी इस उत्कृष्ट स्थिति के। ये उनसे उस वक्त परिचित भी शायद ही हो पाई हों पर श्रीधाम आने पर सभी इनसे मिलने अवश्य आते। ये सभी की श्रद्धेया थीं, सभी की प्रणम्य थीं॥अस्तु॥

सरलाजी से भेंट–

इनकी इस अवस्था पर जगत ही नहीं वह नटवर भी रीझ उठे थे। एक दिन ये प्रगाढ़ ध्यान में डूबी हुई थीं कि स्फुरणा हुई, ''मन्दिर चलो...।'' एक अनोखी बैचेनी सी मन में उठी और इनके कदम स्वतः ही मन्दिर की ओर बढ़ गए। बाहर सड़क पर ही इनके कानों में एक मृदु स्वर झंकार पड़ी। इतने मीठे स्वर में गाये गए पद की स्वर लहरियां ही शायद इन्हें यहां तक खींच लाई थीं। मंदिर के प्रांगण में मिली, प्राणवल्लभ श्यामसुन्दर की एक सखी– १० वर्षीया दृष्टिहीन बालिका सरला जी। हारमोनियम बजाती अपने उन्मुक्त स्वर में पद गाकर ठाकुरजी को रिझाती इस बालिका के प्रति अत्यन्त आकर्षण का अनुभव किया संतोषजी ने। अब तो अक्सर ही मंदिर में ये युगल जोड़ी नृत्य कीर्तन करती अपनी मस्ती में पगी मनहर श्यामसुन्दर का मन हरण करती दीखती। ये भावानुकूल एक साथी पा, उस सरसानंद में डूबी रहतीं पर इस भजनानंद ने और और की त्वरा जगा इनमें श्रीधाम वास की लालसा जगा दी। श्रीवृन्दावन.....श्रीवृन्दावन.....ठाकुरजी की सरस क्रीड़ाओं की स्थली। दिन-रात वृन्दावन दर्शन की प्यास बढ़ने लगी। ललकभरी अन्तःकरण की पुकार ने शीघ्र ही वैसा सुयोग सुलभ, प्रदान करा दिया। सन् १९४२ में कुछ यात्रियों का समूह वृन्दावन आ रहा था और इनकी वृन्दावन दर्शन की अभिलाषा पूर्ण हो गई।

श्रीधाम दर्शन–

जप, तप, व्रत, नेम सभी तीर्थो व जन्म-जन्मांतर के संचित पुण्यों का फल श्रीधाम दर्शन है। सभी साधनों की पराकाष्ठा के बाद ही श्रीधाम दर्शन लालसा और धाम निष्ठा उत्पन्न होती है। श्रीप्रबोधानन्द जी ने एक जगह श्रीधाम का स्तुत्य करते हुए कहा–

प्रकृत्यन्तं तीर्त्वा प्रविश वितते ब्रह्ममहसि,
स्फुरत् पश्यानैकान्तिक कलित वैकुण्ठभवनम्।
तदध्युच्चान्युच्चान्यनुसर सुधामान्यथ महो-
ज्ज्वलेवृन्दारण्ये भ्रम यदि किमप्यत्र मिलति॥ (वृ॰श॰३/२)

प्रकृति आवरण उल्लंघन कर विस्तीर्ण ब्रह्मज्योति में प्रवेश कर, फिर वैकुण्ठलोक के दर्शन कर; उससे ऊपर उच्च उच्चतर मनोहर धामों का अनुसरण कर एवं यदि किसी अनिर्वचनीय वस्तु के पाने की इच्छा हो तो सर्वोपरि महाउज्जवल श्रीवृन्दावन में भ्रमण कर।''

ऐसे श्रीधाम की पावन भूमि के दर्शन का सौभाग्य पाकर १६ वर्षीया श्रीसंतोषजी खुशी से नाच उठीं। जिन यात्रियों के साथ आईं थीं वे लोग केशीघाट के पास ही कहीं ठहरे थे। पहले कुछ दिन वह सबके साथ-साथ ही हर स्थली पर घूमीं। अहा... ये पावन यमुना पुलिन.... रजत चूर्ण से चमकते बालू कण.....अनन्त क्रीड़ाओं के साक्षी प्रिया-प्रियतम के चरणचिह्नों से रंजित ये रज कण.... इन्हीं भावों से पुलकित पू॰ संतोषजी श्रीयमुनाजी को साष्टांग प्रणाम कर पुलिन पर लोटपोट होने लगीं। किसी तरह भावों को संयमित किया हुआ था, भावावेग बांध तोड़ अश्रु रूपों में झर-झर बहने लगा। उसी भावदशा में ये सहयोगियों के पीछे-पीछे चल दीं निधिवन, श्रीहरिदासजी के प्राणधन श्रीबांकेबिहारी जू की प्राकट्य स्थली..........। झुके-झुके, भूमि को परसते अलौकिक वृक्षों से आवृत ये दिव्य निकुंजे....सेवाकुंज की नित्य रासस्थली....उसमें ये ललितासर, शृंगारवट, चीरघाट, इमलीतला। आनंद में डूब गईं श्रीसंतोष जी। महाप्रभु की उपस्थिति संजोए ये इमली का वृक्ष इनमें उसी लीला का स्फुरण कर गया। साथी तो आगे निकल जाते, पर ये स्थलियों की मोहकता में सुधबुध खो अक्सर ही उनसे पिछड़ जातीं। और लो पहुंच गईं वे श्रीबांकेबिहारी व राधावल्लभलालजी की मन प्राण लुभावनी झांकी करने। जेहलम के उन्हीं प्राण प्रिय श्रीविग्रह की भांति आज इन पर ये सर्वस्व ही हार गईं। अपने भाग्य पर इन्हें विश्वास ही नहीं हो रहा था कि वह सदेह श्रीवृन्दावन में ही हैं। इन्हीं

चर्म चक्षुओं से ये सब दिव्य छटा साक्षात् निहार रही है। और फिर जब उड़िया बाबा के आश्रम में रास देखने का सुअवसर आया तो हृदय का पूरा आह्लाद उनके नयनों में छा गया....रासबिहारी-रासबिहारिन की मनमोहक नृत्य मुद्राओं ने इन्हें उसी नित्यधाम में पहुंचा दिया। घंटों उनके कानों में वह छूम छनन-छन गूंजती रही, आंखों के आगे गोलाकार मंडल में विद्युत की सी गति से नृत्य करती गोपांगनाएं.... उसके बाद तो नित्य ही ये रास देखने पहुंच जातीं। अब तो यात्रियों के साथ की भी आवश्यकता नहीं रह गयी थी, यहां के रास्तों से वे परिचित सी हो गई थीं।

दीक्षा लालसा–

एक दिन जब ये रास देखने पहुंचीं तो इनका परिचय इनसे कुछ ही बड़ी उम्र की युवती ''किशोरी'' से हुआ। थोड़ी-सी बातचीत भी हुई। वे वृन्दावन में ही रमणरेती में रहती थीं। अगले दिन पू.संतोषजी अकेली ही उसके घर पहुंच गईं। वह थाली में फूल माला लिए किसी संत को प्रणाम करने जा रही थीं। उन्होंने संतोषजी को भी साथ ले लिया। किशोरी के गुरुवत् ये संत प्रभावशाली कथावाचक और अनुभूति प्राप्त संत थे। इस छोटी उम्र की पंजाबी लड़की में उन्हें सुपात्रता के सभी लक्षण दिखाई दिये। उनके पूछने पर कि कहां ठहरी हो, यहां तक अकेली कैसे चली आई, श्रीसंतोषजी ने श्रद्धापूर्वक बताया कि केशीघाट पर कुछ यात्रियों के साथ ठहरी हूँ। भयभीत न होने का कारण बताते हुए कहा- ''प्रिया-प्रियतम का धाम है, भय कैसा।'' उनके मुख से ये निर्भीक और निष्ठाभरे उत्तर सुन वे संत अत्यधिक प्रभावित हो उठे और इनसे बोले- ''अच्छा आज जाकर 108 माला महामंत्र की करके कल आना। मैं तुम्हें दीक्षा दूंगा'' इनके

मुख से 'दीक्षा' शब्द सुन, ये दीक्षा की उपयोगिता पर मनन करने लगीं। अभी तक ये पक्ष इनके चिन्तन में ही नहीं आ पाया था। अगर इससे श्यामसुन्दर की प्राप्ति में सुलभता होती है तो ऐसी किसी भी प्रक्रिया को अपनाने में व्यग्र हो उठना स्वाभाविक ही था, उस पर संत मुख से निकले ये वचन... धुन की पक्की थीं ही, एक तुलसी की माला बाजार से खरीदी और सीधे केशीघाट जा, सीढ़ियों पर बैठ, माला जप में लीन हो गई। बहुत प्रयास करने पर भी जप गणना अभी १०८ माला से बहुत दूर थी। वस्तुतः जिनका प्रभु स्मरण ही जीवन है, दिन रात स्मरण चलता ही रहता है, वृत्ति उन्हें छोड़ कहीं जाती ही न हो, उनके लिए माला का औचित्य ही क्या था... कर पाना संभव ही न हुआ। भूखी प्यासी तब भी ये निष्ठा से जप करने का प्रयास कर रही थीं। साथ में आए लोग इन्हें न पाकर परेशान से हो गए और ढूंढते-ढूंढते केशीघाट पहुंच गए। सब समाचार सुन, इन्हें मनुहार कर वापस ले आए और समझाया- ''बाकी जप कल कर लेना और फिर दीक्षा ले लेना'' ये मान गईं और उनके साथ वापस आ गईं।

रात को जब सोईं तो अर्धरात्रि को इन्होंने स्वप्न में एक कक्ष देखा। उसमें एक दीवान था और दीवान के एक ओर एक पर्दा लगा था। किसी की आवाज़ आई- ''पर्दे के पीछे एक संत बैठे हैं। पर्दे को खींचो तो ज़रा।'' ये बड़े असमंजस में पड़ गईं और बोलीं- ''मैं कैसे किसी संत का पर्दा उठा सकती हूँ।'' तभी उन संत ने खुद ही पर्दा खींच दिया। ये अपलक उन्हें निहारती रह गईं पर कुछ बोलीं नहीं। वे खुद ही बोले- कभी-कभी कोई मेघ, कोई घटा आंधी तूफान की तरह गरजती आती है पर बिना एक भी बूंद बरसाए लौट जाती है। पर कभी ऐसा भी होता है कि तुम सोए रहते हो और कोई बदली चुपके से आ सरस वृष्टि कर जाती है।'' ये कुछ समझ न सकीं और बोलीं- ''बाबा, मैं कुछ समझी नहीं'' बाबा ने कहा- ''मन का मनका ठोक बजाओ'' इनकी तब भी अबोध सी मुख मुद्रा देख बाबा ने सीधा सा निर्देश दे दिया- ''उन संत के पास कल दीक्षा के लिए नहीं जाना। तुम्हारी गुरु श्रीराधा ही हैं।'' इनका स्वप्न टूट गया। भोर हो चुका था। स्वप्न के इस आश्वासन भरे आदेश से वह जप की पूर्ति या दीक्षा की बात छोड़, उन्हीं साथियों के साथ ब्रज की स्थलियों के दर्शन को निकल पड़ीं।

श्रीबाँकेजी से भेंट–

उन्हीं दिनों इनका श्रीबांकेजी से भी परिचय हुआ। आप संभ्रान्त कुल में जन्मे उच्च शिक्षित वकील थे। श्रीकैलाशनाथ काटजू के साथ इलाहाबाद हाईकोर्ट में वकालत करते थे। भगवत् प्रेमी बांकेजी सन् १९४० में एक बार संयोग से श्रीधाम यात्रा के लिए आए तो बस, यहीं के होकर रह गए। लग्न इतनी थी कि घरबार नौकरी सबकुछ सहज ही छूट गया। आप काले बाबू की कुंज के पास ही यमुना तट की ओर वाले चबूतरे पर सारा दिन पड़े रहते। नाम, जप और संकीर्तन ही इनका भजन साधन था। कहते हैं आपको यहीं श्यामसुन्दर के गोचारण से आवनी के दर्शन हुए थे। विद्वता थी ही और उस पर भक्ति का संपुट लग जाने से शीघ्र ही वैष्णवों की अग्रिम पंक्ति में आ गए। उस समय के सभी सम्माननीय रसिक संतों से उनका परिचय ही नहीं, घनिष्टता सी रही। उनके संकीर्तनमय वातावरण ने पू॰ संतोषजी को भी आकर्षित किया। ये उनसे बहुत ही छोटी थीं पर सुयोग्य सुपात्र थीं। निर्मल मन और प्रभु प्राप्ति की त्वरा चेहरे पर ही नहीं, रोम-रोम से झलकती थी। बांकेजी का वात्सल्य भरा स्नेह इन पर उमड़ पड़ा।

कुछ दिन वृन्दावन रहकर मन प्राण में वृन्दावन को समाहित कर श्रीसंतोष जी यात्रियों के साथ ही जेहलम वापस लौट आईं, पर शायद उनकी देह ही जेहलम लौट पाई थी। हरक्षण वे वृन्दावन की

मधुर स्मृतियों में डूबी, बाह्य जगत के लिए अस्तित्वहीन सी हो गई थीं। भावजगत में निरन्तर डूबी संतोष जी की स्थिति धीरे-धीरे बहुत ही चिन्तनीय हो गई। श्रीधाम के विरह उन्माद में मुंदी उनकी आंखें खुल ही न पाती थीं। ये समाचार जब उनकी सखी ने वृन्दावन में श्रीबांकेजी को लिखा तो उन्होंने फूल चोर बाबा को बिहारीजी का चरणामृत और प्रसादी माला देकर जेहलम संतोषजी के पास भेज दिया।

फूल चोर बाबा–

फूल चोर बाबा से ब्रज के रसिकजन अपरिचित नहीं हैं। उनका वास्तविक नाम श्रीइन्दुभूषण बसु था। विष्णु सम्प्रदाय में दीक्षित इन्दुभूषणजी बांके बिहारी जी की लुभावनी अदा पर रीझ गए थे और उनकी फूलों की सेवा बहुत ही श्रद्धा और प्रीति से करते। कहीं फूल न मिलने से सेठों के बंगलों से फूल चुरा लाते और अपने प्रियतम बांकेजी को रिझाते, इसीलिए इनका नाम 'फूल चोर बाबा' पड़ गया। निधिबन में सोहनी सेवा करते करते इन पर लाड़ली जू की कृपा हुई थी अन्त समय में बिहारीजी की बगीची में इन्होंने रज बिछवा महाप्रयाण किया था। यही बिहारीजी का बगीचा, पू.संतोष बहिनजी, सरलाजी व फूलचोर बाबा के बीच हुई कृष्ण चर्चाओं का, झूमभरे संकीर्तनों का साक्षी है। घंटों सरलाजी हारमोनियम बजातीं, पू.संतोष बहिनजी ताली बजाकर कीर्तन में बेसुध होतीं और फूलचोर बाबा नृत्य में मग्न.... अहा, कैसा रसमय भक्तिमय दिव्य वातावरण होता होगा उन दिनों इस बगीची का। अस्तु। इन्हीं फूलचोर बाबा को बांके जी ने जेहलम संतोषजी के यहां भेजा था।

पू.संतोषजी वृन्दावन में फूलचोर बाबा से मिल चुकी थीं। तीन चार दिन की कष्टमय यात्रा करते बाबा जेहलम पहुंचे थे। उन दिनों आवागमन इतना सुलभ नहीं था। रेलगाड़ी, बस, तांगा, पैदल....अन्ततः

पूछते-पूछते बाबा पू. संतोषजी के घर पहुंच गए। श्रीवृन्दावन का नाम सुन ये थोड़ी सजग हुईं। श्रीबिहारीजी का चरणामृत आंखों से स्पर्श कराते ही इनके नयन खुल गए। प्रसादी माला की सौरभ ने इनमें चेतना भर दी। अधखुली आंखों से जो देखा तो फूलचोर बाबा को सामने देख विस्मय में डूब गईं पर शीघ्र ही बहुत ही अकुलाहट से भर उठीं। वे बाबा के वृन्दावन वास में विघ्न बनीं, इस बात से उनका मन व्यथित हो उठा। उन्हें यहां देख, वह प्रसन्न होने की बजाय बहुत ही रुष्ट हो गईं। बार-बार बस ये ही कहती रहीं, ''आह! तुम वृन्दावन छोड़कर क्यों आए, श्रीवृन्दावन से बाहर क्यों आए। हा-हा मुझसे श्रीधाम के प्रति अपराध हो गया।'' उनके इस दैन्य भरे प्रलाप से सभी भौंचक्के से रह गए। मां के लाख कहने के बावजूद पू.संतोषजी ने बाबा को वहां एक दिन भी रहने नहीं दिया और उसी दिन वापस वृन्दावन के लिए लौटा दिया। मां ने ही, जो हलवा उन्हें खिलाने के लिए बनाया था, जल्दी-जल्दी रास्ते में खाने के लिए बांध दिया। अहा! कैसी सतर्क, सावधान साधक थीं संत शिरोमणि पू.संतोषजी। फूलचोर बाबा तो श्रीधाम चले आए, पर पू.संतोषजी की वृन्दावन बिहारी के प्रति विरहाग्नि और भी प्रज्ज्वलित कर गए।

विरह उन्मादिनी–

उस विरह अवस्था में उनके केश, संवार न पाने की वजह से उलझते-उलझते जटा स्वरूप बन गए। शृंगार विलास की रुचि तो कभी थी नहीं, वस्त्रों की भी सुधि न रही। मलिन से वस्त्र ही इनकी कंचन सी देह पर शोभायमान हो इनकी आभा को छुपाने का सा प्रयास करते। निरन्तर अश्रु बहते रहने से पलकें सूज गई थीं। कपोलों पर अश्रुधारा के निशान, नयनों की लालिमा, अन्तर्मन की दशा को झलका देते। अब वे अन्यमनस्क सी रहने लगीं। निरन्तर सजल नेत्र

विचित्र सी व्यथा कहते। भावों को प्रकट भी नहीं कर सकती थीं और सहना भी दुस्तर सा था। सतत व्याकुलता ने देह को पीतवर्ण सा कर दिया था। इन दिनों इनका बाह्यज्ञान प्रायः लुप्त ही रहता। दैहिक रुग्णता के भ्रम में माता पिता ने चिकित्सा का आश्रय लिया, पर भावदशा की उस अवस्था को डाक्टर किस रुग्णता का नाम देते। ऐसी मनोदशा लिए सांसारिक किसी भी कार्य को कर पाना संभव नहीं था। उनको ये निवृत्ति पथ की बातें मां चानन देई के लिए पहेली सी ही नहीं, अनुचित भी थीं। उन्हें ये सब मात्र कैशोर्य का भाव-भटकाव ही लगता। उन्होंने कठोर रुख अपना लिया। इन पर कई तरह के अंकुश भी लगाए गए। शासित करने की प्रक्रिया में उत्पीड़ित भी किया गया, पर इनके लिए अपने को जागतिक तल पर लाना सहज संभव न हो पाता।

मां की इस अनपेक्षित रूक्षता पर पू.संतोष जी व्यथित भी हो जातीं। उसी व्यथित मन से एक दिन इन्होंने अपने को छोटी-सी, लकड़ी कोयले रखने वाली कोठरी में बंदकर लिया। सारा दिन रोती रहीं, मन के भाव किसे जतातीं। भरे कंठ से रुदन करती बार-बार यही कहती रहीं– "मेरा कौन है इस जग में, कौन मेरी व्यथा समझ सकता है.... कौन है मेरा..... कौन है मेरा।" ये प्रलाप श्यामसुन्दर को उलाहना सा लगा। कोठरी में सुमधुर स्वर सुनाई दिया- "संतोषजी, मैं हूं न तुम्हारा" कैसा अपनत्व भरा आश्वासन। ये अभय वचन मन प्राण को मदिरासिक्त से करते पू.संतोषजी को सभी चिंताओं से मुक्त कर गए। अहा, इस शाश्वत संबंध पर उन्हीं के श्रीमुख से स्वीकारोक्ति की मोहर लग जाए तो कोई भी दुःख व्यापेगा कैसे?

सांसारिक बंधन प्रयास–

इनके वैराग्य और तितिक्षामय व्यवहार से माता-पिता बहुत ही चिन्तित रहने लगे। श्रीधाम से लौटने के बाद से तो इनकी स्थिति से



माँ चानन देई

हरपल शंका रहने लगी कि कहीं ये गृह त्यागकर निवृत्ति का पथ न अपना ले। ऐसी परिस्थितियों में वही सुपरिचित उपाय.... इन्हें गृहस्थी की जंजीरों से जकड़ने की तैयारियां होने लगीं। प्रभु प्रेम में पगी ये कुछ भी जान ही न पाईं। किशोरी संतोष का रूप लावण्य बरबस ही सबको आकर्षित कर जाता। दिव्य लालिमा लिए गौरवर्ण, भरा हुआ स्निग्धता लिए सुगठित कलेवर, अधमुंदी आंखें और चेहरे पर भजनानंद की दिव्य प्रकाश छटा....सबके ध्यानाकर्षण का केन्द्र सी बन जातीं संतोषजी। उन दिनों उस वयस में प्रायः लड़कियों की शादी कर दी जाती थी। इनके माता पिता के इस संदर्भ में रुचि दिखाते ही रिश्तों की बाढ़-सी आने लगी।

एक दिन एक सखी इन्हें छत पर ले गई। नीचे सड़क पर एक लड़के की ओर इशारा कर कहने लगी, "देख, उस लड़के से तेरी शादी की बात चल रही है.....'शादी' शब्द कान में पड़ते ही ये स्तब्ध रह गईं। अवाक् हो सखी की ओर देखती ही रह गईं। फिर एकदम उत्तेजित सी शीघ्र ही सीढ़ियों से नीचे उतर अपने कक्ष में आ बंद हो गईं। अनगिनत भावों की उमड़न से मन में तूफान सा उठ रहा था। श्यामसुन्दर से शिकवे शिकायत का सिलसिला चल पड़ा था। कानों में वही मदिर आवाज गूंज रही थी-"संतोषजी, मैं हूं तुम्हारा" अरे तुम्हारे होकर अब क्या किसी और का भी होना पड़ेगा। मन विवश सा हो, रो पड़ा पर सदैव की भांति सदैव की निर्भीक, परिस्थितियों से झूझने वाली संतोषजी ने माता पिता के समक्ष जा, कड़े शब्दों में अपना शादी न करने का निश्चय सुना दिया। मां का क्षुब्ध होना स्वाभाविक ही था। पिता ने इन्हें आश्वासन तो दिया, पर उन्हें लगा, बेटी को ये संबंध रुचिकर नहीं। कोई और अच्छा वर ढूंढने से शादी के लिए संभवतः 'हां' कर देगी।

इधर पू.संतोषजी सोचने लगीं– "मेरा आकर्षक चेहरा मुझे संसार बंधन में जकड़ने को उद्यत है.... परमार्थ के पथ में भी तो ये सुन्दरता बाधक ही बनेगी। व्यर्थ ही सबका ध्यान मेरी ओर खिंचेगा। मेरा मन सुदृढ़ होने के बावजूद ये अध्यात्म के किसी पथिक को डिगाने का कारण न बन जाए.... इसलिए कुछ ऐसा हो जाए कि ये अनाकर्षक कुरुप सा बन जाए।" इन्हीं विचारों से अभिभूत एक दिन ये कांच के टुकड़े-टुकड़े कर उस बारीक चूर्ण को अपने चेहरे पर घिस-घिसकर मलने लगीं। इनका चेहरा और हाथ दोनों ही लहूलुहान हो गए। जिसे देखकर छोटी बहन की तो चीख ही निकल गई और मां इनके इस दुःसाहसिक कार्य को देख स्तब्ध सी रह गई। पूरे चेहरे पर कई दिन सूजन बनी रही। आंखें अन्दर को धंस गईं। पिताश्री भी मन ही मन आतंकित से हो गए। अपनी लाड़ली के हठ को पहचानते थे ये। पर ये हठ प्रभु प्रेम के दीवानों का सा था, इसलिए निश्चिन्त थे। और वे इस तथ्य को भलीभांति समझ गए थे।

युगल छवि–

पूरे जेहलम में कहीं भी ठाकुर चर्चा हो, संकीर्तन हो पू.संतोषजी निश्चित रूप से वहां उपस्थित रहतीं। एक बार एक उच्च घराने में संकीर्तन का आयोजन था। घरकी स्वामिनी तो प्रभु प्रेमी थी पर उनके पति नास्तिक से ही थे और पुत्र नरेन्द तो बहुत ही उद्दण्ड स्वभाव का था। उसकी गिनती तो दुष्टों और व्यभिचारियों में ही होती थी। संकीर्तन आयोजन के समय, संयोग से नरेन्द्र भी घर पर ही उपस्थित था। मां ने उसके स्वभाव परिवर्तन की आशा से नरेन्द्र के कक्ष में एक बहुत ही सुन्दर युगल छवि का चित्र लगा रखा था। श्रीसंतोष जी की दृष्टि उस कक्ष के सामने से गुजरते हुए उस आकर्षक युगल छवि पर पड़ गई। संकीर्तन के सम्पन्न होने पर संतोष जी ने उन माताजी से वह चित्र उन्हें

दे देने का अनुरोध किया। इनकी उच्च स्थितिवश माताजी का इन पर बहुत ही श्रद्धा युक्त स्नेह भाव था पर वह अपने पुत्र के स्वभाव से भी भलीभांति परिचित थीं इसलिए संतोषजी के आग्रह को मान पाना उनके लिए संभव नहीं था। उन्होंने संतोषजी को पुत्र नरेन्द्र के दुश्चरित की झलक सुना हतोत्साहित भी किया पर अद्भुत निर्भीकता का परिचय देते हुए ये सीधा नरेन्द्र के सम्मुख जा खड़ी हुईं और बोली- "भैया, आपकी ये बहन आपसे एक चीज मांग रही है, देंगे न..." वह इन्हें अपने समक्ष देख आश्चर्यचकित रह गया। अपने से बात करती इस निर्भीक बालिका का ये साहस उन्हें अविश्वसनीय सा लगा। सबकी अवहेलना सहने का, उपेक्षित व्यवहार का ही उसे अभ्यास था। वह इनके तेजस्वी चेहरे की ओर देख ही नहीं सका। इन्होंने सहज ही प्रेमभरे वचनों से अनुनय कर उससे युगल का चित्र मांग लिया। वह 'न' कह ही न सका। इनकी उपस्थिति का सामना करने में असमर्थ उसने झट वह चित्र इन्हें सौंप दिया, जिसे बाद में इन्होंने फ्रेम में जड़वा कर अपनी पूजा में रख लिया था। अब शलिग्रामजी के साथ ये युगल छवि भी विराजित हो गई थी। इधर नरेन्द्र के चरित्र में समूल परिवर्तन हो गया। चित्र की अनुपस्थिति से, युगल के अभावजनित भाव से उस नरेन्द्र का स्वभाव बदला या पू.संतोषजी के स्नेहिल संभाषण, दर्शन से .... इसका आंकलन कौन कर सकता है। पर पूरे जेहलमवासियों को उसके व्यक्तित्व के सुधार पर सुखद आश्चर्य अवश्य ही होता रहा।

श्रीधाम आश्रय–

पू॰ संतोष बहनजी अब शालिग्रामजी के साथ युगल को भी दिनरात लाड़ लड़ाने लगीं। निश्चय की पक्की, श्यामसुन्दर पर अटल विश्वास रखने वाली पू॰ संतोषजी अब किसी सुयोग की प्रतीक्षा करने लगी। इधर हिन्दुस्तान पाकिस्तान के विभाजन की प्रक्रिया आरंभ हो

गई। जेहलम में भी दहशत और खूनी दंगों का दौर चल पड़ा। सभी लोग घरबार छोड़कर भाग रहे थे, सुरक्षित स्थान ढूंढ रहे थे, आश्रय खोज रहे थे। ऐसी भयावह परिस्थितियां इनके लिए वरदान सी ही बन गईं। एक काफिले के साथ ये जन्म-जन्मान्तर के अपने सबल और एकमात्र आश्रय श्रीवृन्दावन धाम अपने निज धाम आ गईं।

अहह जन्म सहस्त्र समेधितै र्बहु तपो जप योग समाधिभि:।
असुलभ लभतेऽप्यधि राधिकावनमये नमयेदपि यः शिर॥

अहह! हजारों जन्म अनेक तप, जप, योग एवं समाधि आदि साधनों से जिसकी प्राप्ति नहीं होती, वही प्रेम पुरुषार्थ इस श्रीराधाबन को केवल एक बार सिर झुकाकर प्रणाम करने से ही प्राप्त हो जाता है।

वृ॰ म॰ १५-२५

नमो वृन्दारण्ये रसिकवर रंगी भगवते।
नमो वृन्दारण्येश्वरि! तव पदाम्भोजरजसे॥
नमस्ते तदद्वन्द्व प्रणय ललिते श्रीललिते।
नमः श्रीमद् वृन्दाटवि! सुबहुकुत्वस्त्वयि मम॥

वृ॰ म॰ १६-९०

श्रीवृन्दारण्य के रसिकवर रंगी भगवान को नमस्कार है। हे वृन्दावनेश्वरी! तुम्हारे चरणकमलों की रज को नमस्कार। युगलकिशोर की प्रणय स्वरूपा अति सुन्दरी श्रीललितादेवी को नमस्कार है। हे श्रीवृन्दाटवि! तुम्हें बहुत नमस्कार है।

सन् १९४२ में जब वे श्रीधाम आई थीं तो सभी स्थलियां देखी थीं। रमणरेती, टोपीकुंज, उड़ियाबाबा के आश्रम का रासमय वातावरण, चीरघाट, केशीघाट.....सब इनके मन में समाया हुआ था। कई संतों से भी तब मिलन हुआ था, इस तरह श्रीवृन्दावन इनके लिए एकदम अपरिचित नहीं था। (जन्म जन्मान्तरों से संबंधित निजधाम अपरिचित

हो भी कैसे सकता था) पर यहां पर किसी और का आश्रय स्वीकार करना इन्हें श्रेयस्कर न लगा। आश्रय तो अपने श्यामसुन्दर का लेना ही उचित लगा। किसी भी परिकर या किसी भी सम्प्रदाय में बंधना इन्हें रुचिकर न लगा। अपने विवेक से जितना भी वह ग्रहण कर सकती थी, पूरी विनम्रता से, श्रद्धा से, बिना उनकी अवहेलना किए, वे संजोती जा रही थीं। उन पर श्रीधाम की कृपा तो निरन्तर बरस ही रही थी। माधुर्य रस रूपा, कृष्णप्रेम प्रदायिनी श्रीयमुनाजी, किसी भी त्वरा लिए मन को उस सुख से वंचित नहीं रखतीं। उन दिनों पू.संतोष बहिन जी का वास्तव में यमुना पुलिन ही आश्रय स्थल था। दिनरात अकेली ही इस पावन रज पर पड़ी रहतीं। न खाने की सुध, न किसी दैनिक नित्य कर्म की। रहने के लिए नाममात्र को गोपीनाथ घेरे के सामने धोबीगली में एक कमरा ले लिया था पर दिन रात सान्निध्य तो श्रीयमुनाजी का ही होता। यमुनाबिहारी ने उन दिनों इन्हें कैसे-कैसे सिक्त किया होगा, कौन जान सकता है। इनको खुद भी उन दिनों की घटनाओं की कुछ भी स्मृति नहीं (शायद वह प्रकाश में लाना नहीं चाहती थीं इसीलिए इस विषय में मौन ही रहतीं) ऐसा तितिक्षामय जीवन आज के इस युग में शायद ही देखने को मिले। मुट्ठीभर रज खाकर पेट भर लेती थीं। आकुल व्याकुल मन हरपल प्रार्थनामय सा, विरह उन्माद की पराकाष्ठा लिए हुए था। निरंतर बहते आंसुओं से पलकें गल गई थीं। उन दिनों इन्हें चारोंओर दिव्य निकुंजें ही दीखती थीं। ब्रजवीथियों में मकान या बाजार इनके दृष्टिपथ पर आते ही नहीं थे। अलौकिक साम्राज्य में ही सदैव विचरण होता।

पू.संतोषजी की उन दिनों की इस रसमयी दशा के साक्षी हैं वेणु विनोद कुंज के पू.मनोहर दास बाबा। उन्हीं के शब्दों में- "वृन्दावन की कोई गली, यमुना पुलिनका कोई कण ऐसा नहीं जो

इनके आंसुओं से सिंचित न हो।'' प्रियतम श्यामसुन्दर प्रेमीभक्तों की ऐसी रसमयी दशा को अंग संग डोलकर ही तो अवलोकते रहते हैं। कुछ ऐसी ही बाँवरियों की उड़ती चरणरज का लोभ सा रहता है इन्हें। पर इस बेसुध अवस्था में देह अधिक दिन साथ नहीं देती, इसीलिए इस स्थिति से उबरने के लिए, भक्त देह की रक्षा हेतु वे उसे किसी बंधन में डाल देते हैं और लो.....कौतुकी यमुना पुलिन विहारी ने एकान्तिनी संतोष जी को भी सरला जी के बंधन में डाल दिया।

सरला जी से पुनः भेंट–

लाहौर के मन्दिर में इनकी कीर्तन और नृत्य की संगिनी और श्रीधाम में लगभग ५० वर्ष तक इनके साथ वास करने वाली सरला जी के जीवन की अल्प झांकी करें। सरला जी के शब्द चित्रांकण के बिना पू.संतोष जी के सेवामय व्यक्तित्व को वास्तविक रूप में उजागर करना संभव नहीं हो सकेगा। ९ अप्रैल १९९९ को सरला जी की पुण्य तिथि पर जब मैं पू.संतोष बहनजी को प्रणाम करने गई तो सरलाजी की स्मृति से अभिभूत, उन्होंने उस दिन जो भी बताया, वही इस विवरण का आधार है। अस्तु

सरलाजी जेहलम के ही एक सम्पन्न परिवार में जन्मी भक्त बालिका थीं। जन्म से ही दृष्टिहीन थीं, सो माता पिता बहुत ही दुःखी रहते। मां का तो सारा दिन अपनी इस बच्ची के भविष्य की चिंता में रो-रो कर कटता। गम में डूबता मां का बोझिल मन... खाने-पीने की रुचि न रही। चिंता से शरीर काफी कमजोर हो गया, चक्कर भी आने लगे। वह खड़ी होती तो गिर जाती। एक दिन ५ वर्षीया बच्ची ने मां से पूछ ही लिया– "मां तुम रोती क्यों रहती हो'' मां ने दुखी मन से कहा-''तुझे दिखाई नहीं देता, इसीलिए।'' नन्हीं सरला ने झट जवाब दिया- ''मां मैं ये संसार देखने तो आई नहीं और और जिसे देखने की

इच्छा है वह मुझे ऐसे ही इन्हीं आंखों से ही दीखता है।'' क्या ही अद्‌भुत जवाब था सरलाजी का। श्रीकृष्ण प्रेम पगी सरला जी को बचपन से ही ठाकुर चर्चा छोड़ कुछ भी न सुहाता था। ऐसी सरलाजी को मंदिर में पू॰ संतोषजी से मिलाना निश्चय ही ठाकुरजी का कोई रहस्यमय कौतुक ही था। दोनों में सौहार्द और एक दूसरे के प्रति सहज आकर्षण का आधार, श्यामसुन्दर से सहज प्रीति ही था। पर पू.संतोषजी की विरह प्रधान स्थिति ने उन्हें शीघ्र ही श्रीधाम पहुंचा दिया। उनके जेहलम छोड़ वृन्दावन आ जाने से सरला जी बहुत उदास रहने लगीं। संतोषजी के बिना मानों उनका भक्ति का आधार ही खो गया। मानस में इसी संदर्भ में गोस्वामी तुलसीदासजी ने लिखा- ''बिछुरत एक प्रान हर लेहीं।'' पू.संतोषजी के बिना सरलाजी का वही हाल हो गया। गुमसुम सी रहने लगीं, अन्ततः बीमार हो गईं। बहुत चिकित्सा कराने पर भी कोई सुधार नहीं हुआ। डाक्टर ने भी इनकी स्थिति देख, स्पष्ट शब्दों में कह दिया– "बच्ची की जिन्दगी चाहते हैं तो इसकी रुचि अनुसार वृन्दावन ही ले जाइए।''

इनकी प्राण रक्षा हेतु माता पिता इन्हें लिए श्रीवृन्दावन आ गए। इन्हें संतोषजी के मिल जाने का पूरा भरोसा था। पर जिन्हें ये मंदिरों में, धर्मशालाओं में ढूंढ रहे थे, वे तो अपनी बेसुधि में दिनरात यमुना पुलिन पर पड़ी रहतीं। श्रीसंतोषजी की खोज में दिन पर दिन बीतने लगे। पिता चिंतित से सरला जी को वापस चलने को कहते। श्रीधाम से वापस जाना सरला जी के लिए दुःखदायी ही नहीं, असंभव सा था। कोई और व्यक्ति भी दृष्टिहीन किशोरी का उत्तरदायित्व संभालने को तैयार नहीं हुआ। बहुत पैसा देने पर भी किसी विश्वस्त व्यक्ति की व्यवस्था न हो पाने से माता-पिता अपनी लाड़ली बच्ची के लिए बहुत सोच में पड़ गए। अन्ततः भरे मन से बेटी को साथ ले वापस जाना ही उन्हें श्रेयस्कर लगा। जिस दिन शाम को वापस जाना था, उसी दिन सुबह ठाकुरजी

ने उसी धर्मशाला में रह रही एक बंगाली विधवा वृद्धा को आरती के समय ऐसी प्रेरणा दी कि वह खुद ही इन्हें रखने की पूरी जिम्मेदारी लेने को तैयार हो गई। सरलाजी को तो संतोषजी के मिलने का पूरा विश्वास था ही। इस तरह अपनी लाड़ली सरला को श्रीधाम के आश्रय पर छोड़, भरे मन से माता पिता वापस चले गए।

कुछ महीनों बाद पू.संतोषजी एक गली से जा रही थीं कि एक चिरपरिचित स्वर सुन चौंक गईं। अपनी बेसुधि से उबर, जो सिर ऊपर उठाया तो देखा– सामने ही जेहलम के मन्दिर में हारमोनियम पर उन्मुक्त स्वर से पद गाने वाली उनकी सखी सरला एक वृद्धा का हाथ थामे अपने उसी सरस उन्मुक्त स्वर से कुछ गाती जा रही है। सुखद आश्चर्य में डूबी पू.संतोष बहिन जी ने झट जाकर सरला जी का हाथ अपने हाथ में ले लिया... और उस वक्त का थामा हाथ, ५० वर्ष तक उनके वृन्दावन वास के समय उन्होंने उसी मजबूती से थामे रखा। उनको साथ लिए लिए ही उन्होंने मन्दिरों में देव दर्शन किए, संतों को प्रणाम करने गईं, स्थलियों पर बैठ लीला चिंतन किया, गलियों में नृत्य किया। श्रीबिहारीजी दर्शन करने जातीं तो लोग दृष्टिहीन सरलाजी को लक्ष्य कर पूछ बैठते– ''आप भीड़ में रोज बिहारीजी क्यों चली आती हैं- कुछ देख तो सकती नहीं।'' वह भी अपनी लटक में झूमते हुए कहतीं– ''बिहारीजी तो मुझे देख लेते हैं।'' वस्तुतः सरलाजी तो प्रज्ञा चक्षु थीं, उनका हाथ थामने वाली भी उतनी ही समर्थ थीं शायद इसीलिए सरलाजी सच में ही ठाकुरजी के दर्शन कर रही होतीं। अक्सर ही वह बिहारीजी के वस्त्रों का रंग, शृंगार वर्णन बिलकुल ठीक-ठीक बता देतीं।

सरलाजी का हाथ थामे वृन्दावन की गलियों में विचरती पू. संतोषजी सबकी श्रद्धेया थीं। कथा में बैठी निर्मल हृदया सरलाजी बालसुलभ चेष्टाएं करतीं, कृष्ण कथा सुन ताली बजाकर हर्ष मग्न



पूज्य सरलाजी का हाथ थामें पूज्य संतोष जी

होतीं, इधर पू. संतोषजी गहन गंभीरता में डूबी हुई होती। तत्वतः दोनों ही उसी रस सागर में डूबी रहतीं। एक बार रास में जाते हुए सरलाजी पू.संतोष बहन जी को पीछे की ओर खींचने लगी। पू.संतोषजी अचम्भित सी थोड़ी खीजकर बोलीं– ''सरला तूं जल्दी क्यों नहीं चलती, पीछे क्या है'' सरल चित्त सरलाजी ने सहज ही जवाब दिया– ''मैं क्या करूं, तुम उधर आगे खींचती हो और ठाकुर इधर।''

ये प्रसंग सुनाते हुए पू.बहनजी ने कहा था–''मुनिया, सरलाजी परम संत थी.....।'' और मैं सोच रही थी, उस परम संत को जिस सुदृढ़ सबल आश्रय में ठाकुरजी ने रखा वह पू.संतोष बहनजी कैसी संत हैं। ''अमानिना मानदेय'' की साक्षात प्रतिमा ही थीं। कहती भी थीं–''मान देने की चीज है, लेने की नहीं। प्रेम देने की चीज है, लेने की नहीं।''

तितिक्षामयी–

पू.संतोष बहन जी का जीवन बहुत तितिक्षामय रहा। उन्हें न भीषण गर्मी का ताप विचलित करता, न शीत की कंपकंपा देने वाली सर्द हवाएं। जेठ की तप्त धूप में ये नंगे पांव पैदल ही गोपीनाथ बाजार से उड़ियाबाबा के आश्रम मोतीझील जाती दीखतीं। गर्मी की उष्णता से अविचलित बड़े आराम से ऐसे चलतीं मानों धूप से जलने का आभास ही नहीं हो रहा। कभी किसी ने इन्हें खुद को पंखा करते भी नहीं देखा। सर्दी में बिना किसी विशेष गर्म कपड़ों के यमुना पुलिन पर या किसी और स्थली में बैठी मिल जातीं। किसी का प्रसादी स्वेटर मांग कर पहन लेतीं और उस पुराने स्वेटर से बरसों गुजार देतीं। घोर शीत में भी कभी इनको कांपते हुए नहीं देखा और न ही अधिक गर्म कपड़ों में।

दैन्य की मूर्ति पू.संतोषजी को कभी सीधा चलते देखा ही नहीं। सदा ही सिर झुकाकर ही रास्ते में चलती थीं। इस पर भी अगर राह चलते किसी ने इन्हें प्रणाम कर दिया तो वे उसी जगह धूल मिट्टी में

ही बैठ जातीं। ज़मीन पर सिर टिका प्रणाम करतीं और बहुत देर तक वहीं बैठी रहतीं। इनके दैन्य से सभी परिचित थे और इनका अत्यधिक आदर करते थे। पर इतना सम्मान देने के बावजूद इनके समक्ष इन्हें प्रणाम नहीं कर पाते थे। अंत तक पू.संतोषजी की रहनी बहुत ही साधरण रही। सम्मान प्रतिष्ठा पूज्यता को इन्होंने कभी अपने पास नहीं आने दिया। अगर कोई अधिक आदर प्रदर्शित करता तो इनका रोना शुरू हो जाता। अपने को क्या-क्या कहना शुरू कर देतीं'' मैं नीच हूं-पापी हूं, मेरे में भक्ति का लेष भी नहीं, मैं तो धोबी का कुत्ता हूं, न घर का न घाट का'' और भी न जाने क्या-क्या।

इनकी रहनी बहुत ही आदर्शमय थी। दिन में तो सेवा की प्रतिमूर्ति, सेवा और संत दर्शन में मग्न रहतीं और रात रातभर जागकर चिन्तन में बैठी मिलतीं। एक बार पू॰ ऊषाजी रात को पू.संतोष बहिन जी के पास ठहरीं तो ये वास्तविकता उजागर हुई। रात को सोने के समय पू.संतोष बहिनजी ने सरलाजी के लिए गद्दा बिछाया, पास ही पू॰ ऊषाजी के लिए और अपने लिए भी। सरलाजी तो सो गईं, पर ये सोने का अभिनय सा करती लेट तो गईं। थोड़ी देर बाद ही स्वभाववश इन्होंने अपनी बोरी उठाई और नाली के पास जाकर बिछाई। दीवार का सहारा ले उकडूं सी बैठ गईं। नैन स्थिर, आकुल व्याकुल सी देह मानों किसी की प्रतीक्षा में डूबी हो और जब भी पू॰ऊषाजी ने सिर उठाकर देखा तो इन्हें ऐसे ही बैठे पाया। पू॰ऊषाजी मन ही मन इन्हें प्रणाम करती रहीं। अहा! साधक की आदर्श जीवनी की प्रस्तुति स्वरूपा पू. संतोष बहनजी। अक्सर वे बोरी पर ही बैठती थीं। एक बार बोरी पर बैठने का रहस्य बताती हुई बोलीं- ''बोरी पर बैठकर भजन करने से साधक की बहुत जल्दी उन्नति होती है। सात्विक वृत्ति बनी रहती है। राजसिक परमाणु नष्ट हो जाते हैं।'' अस्तु।

पूज्या संतोषजी सरलाजी को उच्चकोटि की संत के रूप में ही देखती थीं जो केवल पूर्व प्रारब्ध भोगने इस धरा पर आई थीं। उन्होंने इसी भाव से उनकी दिन रात इनकी प्राणपण से सेवा की। सरलाजी को अच्छी से अच्छी चीज खाने को देतीं, गाय की रोटी भी घी से चुपड़कर रखतीं और आप अपने लिए दो मोटे टिक्कड़ से बना लेतीं। सरलाजी को खिलाने के बाद साग वाली कढाही में पानी डाल, अपनी रोटी भिगो खा लेतीं। सरलाजी को अच्छी से अच्छी कोमल से कोमल साड़ी पहनाती, पर आप वही मोटी खादी की श्वेत धोती। नींवू के छिलके उबाल उबालकर प्रीतिपूर्वक सरलाजी के केश धोतीं, तेल लगा केश संवारती और आप शायद दो चार दिन बाद कभी यों ही केश समेट लेतीं। वस्तुतः उनकी सेवा को वे भगवद्सेवा समझकर ही करती थीं। बेचारी सरलाजी को इस सबका आभास भी नहीं हो पाता। कभी शायद हो भी जाता तो वह अपनी इन हठीली सखी से व्यर्थ की रार बढ़ा, वातावरण को क्षुब्ध क्या करतीं। कभी कभी इन बातों को लेकर झगड़ा हो भी जाता था पर सरलाजी के वश में कुछ था भी नही। हां पू॰ऊषाजी के वृन्दावन आने के बाद स्थिति थोड़ी अवश्य बदली थी। वे जानती थी जो कुत्ते गाय की रोटी कह, सूखे टिक्कड़ इधर उधर डोल में छिपाकर रखे जाते थे, पू.संतोष बहन जी वे ही पाती थीं सो श्रीऊषाजी जब भी इनके यहां पहुंचतीं तो उन्हीं टिक्कड़ों की खोज में लग जातीं। उनकी पैनी निगाहें किसी न किसी डोल में छिपे वह मोटे टिक्कड़ ढूंढ ही निकालतीं और छीना झपटी शुरू हो जाती। ऊषाजी टिक्कड़ लेकर ही मानतीं। वास्तव में उन दिनों श्रीऊषाजी का संतोष बहन जी के हाथों से बनाए उन टिक्कड़ों से कण लेने का नियम सा ही था। आखिर वृन्दावन आने पर सर्वप्रथम उन्हें ''ये ही'' तो मिली थीं। श्रीऊषा जी की पू.संतोषजी के लिए अपरिमित श्रद्धा रही। वे कहती

भी थीं कि मुझे तो वृन्दावन में इनका पल्ला पकड़ इनके पीछे-पीछे चलना अच्छा लगता है।'' वस्तुतः पू.संतोष बहिनजी की गरिमा ही ऐसी थी। सभी बड़े-बड़े संत इनसे बहुत ही प्रेम करते थे। उनमें से कई तो इनके वहां से चले आने के बाद वहां की चरणधूलि अपने मस्तक पर लगाते थे। पूछने पर कहते ''ये गोपी हैं।''

संत समागम– महाराजजी से मिलन–

बांके जी के यहां इन्हें महाराजश्री का रसिक सिद्ध संत के रूप में परिचय मिला था। सन् १९१८ में दक्षिण प्रदेश के कर्नाटक राज्य में मोक्षदा एकादशी को जन्मे महाराजश्री ने युवावस्था में ही भगवद् साक्षात्कार की लालसा में गृहत्याग कर दिया था। देशभर के तीर्थों का परिभ्रमण करके सन् १९३८ में वे वृन्दावन आ गए और साधना में डूब गए। इनकी भावोन्माद की अलौकिक दशा में पू॰मनोहरदास बाबा व ठाकुर घनश्याम जी सतत सान्निध्य में रहे। महाराजश्री की दिव्य अनुभूतियों और भावमूर्च्छा में स्फुरित पदों के पू.मनोहरदास बाबा साक्षी रहे हैं। महाराजश्री की भगवत् प्राप्त संत के रूप में ब्रज में ख्याति हो चुकी थी। पू.संतोष बहिनजी कितना भी दैन्य प्रकट करें, महाराजश्री को उन्हें पहचानने में पल भी न लगा। वे पू.बहिनजी की उच्च स्थिति से पूर्णतया परिचित थे और उन्हें बहुत मान देते थे।

पू॰ मनोहरदास बाबा से भेंट–

उन्हीं दिनों इनका परिचय पू.मनोहरदास बाबा से हुआ। नर्मदा तटवर्ती महेश्वर में एक ब्राह्मण परिवार में जन्मे, होलकर राज्य राजपुरोहित श्रीखण्डेराव जी मूले के कनिष्ठ पुत्र, पू.मनोहरदास बाबा की गरिमा से ब्रजमण्डल सुपरिचित है। युवावस्था में ही वे एक सौ आठ बिल्वपत्रों से नित्यप्रति अपने आराध्य शिवलिंग का पूजन अर्चन करते थे। कई बार गायत्री पुरश्चरण भी किए। बाईस वर्ष की अवस्था

में श्रीकृपालु जी का भावमय संकीर्तन सुन वृन्दावन चले आए। वृन्दावन आने पर श्रीबालकृष्णदास जी महाराज के सम्पर्क में आए। महाराजश्री के प्रति इनका अतुलनीय गुरु भाव रहा। कई बार कठोर परीक्षाएं भी देनी पड़ीं, पर इनकी गुरु निष्ठा अविचल रही। पू. बाबा वैरागी संत हैं, पूर्णतया अनासक्त। उनके बाह्य व्यवहार से कोई कल्पना भी नहीं कर सकता कि उनके अंतर में रससिन्धु की लोल लहरियों का अविरल आलोड़न चलता रहता है। उनकी आध्यात्मिक स्थिति का आंकलन लौकिक नेत्र कर ही नहीं सकते। वर्तमान में वेणुविनोद कुंज में रह रहे पू.मनोहरदास बाबा, पू.संतोष बहिनजी के निकटतम परिचितों में हैं। इनका पू.बहिनजी से बहुत ही स्नेहिल और आत्मीय संबंध रहा है। सन् १९४७ में पू. बाबा प्रथम बार पू. संतोष बहिन जी से मिले। उनका ये परिचय प्रसंग उन्हीं के शब्दों में– ''अभी-अभी की बात है, पुरानी नहीं। इस समय वृन्दावन सिद्ध साधकों का गढ़ था। यहां न बाजार था, न व्यवहारिक जन कोलाहल। मन्दिरों के घंटा-घड़ियाल की मधुर ध्वनि, हाथ में झोली लिए दर्शक गण, कहीं-कहीं अखण्ड कीर्तन की ध्वनि, शांत वातावरण...कहीं-कहीं रास के दर्शन....बस यही वृन्दावन-दर्शन था।

बात सन् १९४५ की है। संतों के आश्रय में सत्संग का आयोजन, महासिद्ध संत उड़िया बाबा, हरिबाबा के आश्रम का दिव्य वातावरण, जिज्ञासु पिपासु श्रोताओं की उत्कण्ठा भरी दृष्टि.....देखते ही बनता था यहां का वातावरण। मैं इसी साल विरक्त रूप में गृहत्याग कर वृन्दावन आया था। यहां भिक्षाटन करके जगन्नाथ घाट पर एक कुटिया में रहता था। मेरे एक देशवासी दम्पति मुझसे दो वर्ष पूर्व वृन्दावन आकर वास कर रहे थे। उनकी कृपा से मुझे एक सिद्ध महापुरुष महाराजश्री के दर्शन हुए। जैसी मेरी लालसा थी उसी प्रकार

का संत आश्रय मिलने से मन बहुत ही प्रसन्न था। इनके चरणाश्रय में कभी-कभी रहता था।

एक दिन की बात है। इन दम्पति के यहां श्रीजी बैठे हुए थे। मैं भी चरणाश्रय में बैठा था। बम्बई कोठी वाले सेठ से दो मोटी रोटी भिक्षा मिली थी, थोड़ा सा गुड़ भी था। रोटी एक ताक में यों ही रख दी थी। समय संध्या का था, रिमझिम वर्षा हो रही थी। कुछ चर्चा चल रही थी, गली सुनसान थी। तभी देखा, एक नवयुवती गौरवर्ण, २०-२२ साल की अवस्था, काली सलवार, काली कमीज पहने हुए, नेत्रों में अश्रु भरे हुए, नीचा सिर झुकाए, वर्षा से कुछ भीजी हुई, धीमी-धीमी चाल से चलती हुई द्वार के सम्मुख आकर खड़ी हुई। सिर पर अर्धपल्ला लिए हुए, धीरे से कोमल स्वर में दैन्यतापूर्वक बोलीं– "एक रोटी का टुकड़ा।" उस आर्त मधुर स्वर ने हृदय को चौंका दिया व सबकी दृष्टि उसके ऊपर जा पड़ी। देदीप्यमान चेहरा, भगवदनुराग चेहरे पर टपक रहा था। अश्रुपूरित नेत्र बह रहे थे। पलकें लाल सूजी हुई थीं, अवनत मस्तक.... हमारे मन को इस दृश्य ने झकझोर दिया। दृष्टि उस युवती के मुख पर स्थिर हो गई। श्रीजी तो अन्तर्यामी संत ही थे, देखते ही धीरे से मुझसे कहा– "इसको भिक्षा दो, ये उच्चकोटि की साधक हैं।" घर में तो कुछ था नहीं, ताक में मेरी भिक्षा की मोटी दो रोटियां रखी थीं। मैं झट से उठा, रोटी उठाईं और उस युवती के हाथ पर गुड़ रखकर दे दीं। वह हम लोगों की चेष्टा से समझ गई कि इन लोगों ने मुझे पहचान लिया है। जल्दी से रोटी के ऊपर रखा गुड़ फेंक कर भाग निकली और नेत्रों से ओझल हो गई। श्रीजी ने कहा– "ये बहुत अच्छी भक्त है" यह उनका मुझे प्रथम दर्शन था।

इसके बाद कभी-कभी उड़िया बाबा के आश्रम में साधु संतों में सबसे पीछे, नीचे सिर झुकाए अश्रु बहाते हुए सत्संग सुनते हुए देखते थे। आंखें लाल-लाल, नीचे की पलकें सूजी हुईं, सूजी हुई क्या,



पूज्य मनोहरदास बाबा, पूज्य सरलाजी व अन्या
के साथ पूज्य संतोष बहिनजी

गल ही गई थीं। अश्रु सतत बहते रहते थे। कभी-कभी दिन में, रात्रि में वृन्दावन की गलियों में अकेली नीचे सिर किए अश्रु टपकाते चलती हुई मिल जातीं। दो-दो बजे रात को यमुना पुलिन पर अकेली पड़ी हुई मिलतीं। रहने को घर नहीं, एक धोती हाथ में, जहां-तहां पड़ी रहती थीं। यह सब दृश्य आंखों से कई बार देखा है। ''वृन्दावन की गली-गली इनके आंसुओं से भीजी हुई है।'' उसके बाद वह यदाकदा पू.महाराजश्री के यहां सत्संग में आ जाती थीं।

अनुरागिणी संतोषजी सदा सर्वदा ठाकुर चर्चा और लीला चिंतन में डूबी रहतीं। अपनी बेसुधि में अर्धरात्रि को ही श्रीयमुना पुलिन की ओर चल देतीं और चातक वृत्ति सी ललक लिए घंटों प्रभु दर्शन में प्रतीक्षारत स्थिर बैठी रहतीं। ऐसी ही विरह की स्थिति में एक दिन यह श्रीबांकेजी की कुटिया के नीचे सीढ़ियों पर अर्धरात्रि को ही आ बैठीं। श्यामसुन्दर के विरह ताप से उद्विग्न पू.संतोष बहिनजी किसी और ही लोक में निमग्न थीं। इधर ऊपर अपने कक्ष में ध्यानरत बांकेजी एकाएक बेचैन से होकर छटपटाने लगे। व्याकुलता हरपल बढ़ती-बढ़ती असहनीय होती गई। सोचने लगे– ''ये क्या हो रहा है'' कारण कुछ भी समझ नहीं आ रहा था। कुछ देर कक्ष में घूमते रहे, फिर द्वार खोल, जो बाहर आने को हुए तो आश्चर्यचकित रह गए। नीचे सीढ़ियों पर पू.संतोष बहिनजी को बैठे देखा। समझ गए इन विरहमूर्ति का ताप ही उन तक पहुंच रहा था।

अर्धरात्रि में ही अक्सर ये इमलीतला के पास ही पुराने गंगा मंदिर की सीढ़ियों पर आ विराजतीं, आकर्षण था, संकीर्तन ध्वनि का लोभ। वहां नीचे के कमरे में पूज्या देवीजी सुस्वर उच्च कण्ठ से नाम ले रही होतीं और ऊपर के कमरे में पू.मनोहरदास बाबा। ये बाहर बैठी नाम धुन आस्वादन में मत्त रहतीं। उन दिनों भोर में नित्य प्रति गंगा मंदिर की इन सीढ़ियों में जा बैठना इनका नियमबद्ध क्रम सा ही था।

पू.बहिन जी कहतीं– "ये गंगा मंदिर नहीं; गंभीरा मन्दिर है। यहां नाम लिया नहीं जाता, खाया जाता है।" यह गंगा मन्दिर का पावन स्थान उन दिनों की महाराजश्री की उन्मत्त भावदशाओं का साक्षी था।

पू.महाराजश्री की गरिमा को प्रगट करती पू.बहिनजी के मुख से सुनी एक घटना है। सन् १९५० की बात है। उन्हें वृन्दावन आए अभी दो-ढाई साल ही हुए थे। एक बार स्वप्न में ये बिहारीजी के दर्शन करने गईं। बिहारीजी के मंदिर में प्रांगण में ही ये खड़ी थीं। मंदिर में कोई भी नहीं था, पुजारी भी नहीं। केवल जयकिशोर भंडारी ऊपर कठहरे पर टेक लगाए खड़े थे। जैसे ही पू.संतोषजी सीढ़ी से ऊपर जाने लगीं तो देखा महाराज श्री भी पास से होकर जा रहे थे।वे अपनी उसी चिरपरिचित मस्ती में डूबे थे। इन्होंने उन्हें अभिवादन नहीं किया। जब ये बिहारीजी के दर्शनार्थ आगे को हुईं, तो देखा बिहारीजी की दाहिनी आंख पर पट्टी बंधी थी, ये स्तब्ध रह गईं। घबराकर पूछा– "आपकी आंख को क्या हो गया" बिहारीजी बोले– तूने ही तो मेरी आंख फोड़ दी है" ये सकपका गईं। बड़ी मायूस सी हो बोलीं- "मैंने क्या किया है?" बिहारीजी बोले– "एक संत तेरे सामने से निकल गए और तूने अवहेलना कर दी। संत तो मेरे नेत्र हैं।" इस प्रकार बिहारीजी ने निजमुख से श्रीमहाराजजी को संत की उपाधि दी।

पू.देवीजी से मिलन–

उन्हीं दिनों उनकी भेंट हुई श्रीमहाराजजी की अनन्य आश्रिता पू.देवीजी से। उत्तर प्रदेश के ही बुलन्दशहर के एक सम्पन्न परिवार में जन्मी पू.देवीजी ईश्वर प्राप्ति की लालसा से बाल्यकाल में ही गृहत्याग कर घोर विरक्ति और तितिक्षापूर्ण जीवन व्यतीत कर रही थीं। अयाचक वृत्ति से परिभ्रमण के समय ओंकारेश्वर में नर्मदा जी स्वयं एक मल्लाह की आठ वर्षीया बच्ची का रूप धर इन्हें दूध पिलाने आई



पूज्य देवी जी, के साथ पूज्य संतोष जी

थीं। श्रीधाम आने के बाद पू.देवीजी, महाराजश्री के चरणाश्रय में रहती हुई गंगा मंदिर की एकान्तिक कुटिया में साधनारत, नित्यप्रति तीन लाख जप किया करती थीं। उन दिनों उन्हें भावराज्य का आस्वादन भी भरपूर मिला। पू.देवीजी को महाराजश्री का निरन्तर सत्संग सतत सान्निध्य और अगाध स्नेह मिला था, इसीलिए जब सन् १९४७ में श्रीजी अज्ञातवास के लिए चले गए तो ये बहुत ही बेचैन हो गईं। अपने गुरु श्रद्धेय महाराजजी की अनुपस्थिति इनके लिए असहनीय थी। इनका खानापीना सबकुछ छूट गया। इस अनशन और मानसिक व्यथा से इनका शरीर बहुत ही कमजोर हो गया। श्रीबांकेजी को सब समाचार मिला। उन्होंने पू.संतोषजी को देवीजी के पास उन्हें समझाने के लिए, गंगा मन्दिर भेजा। यही पू.देवीजी व पू॰संतोषजी का प्रथम मिलन था। श्रीसंतोषजी इनके साधनामय कठोर जीवन से और नाम निष्ठा से बहुत ही प्रभावित हुईं। पू.देवीजी की उच्चस्वर से महामंत्र की संकीर्तन ध्वनि सुनने के लिये अक्सर भोर में ही गंगा मंदिर की सीढ़ियों पर आ बिराजतीं।

ठाकुर घनश्याम से अपनत्व–

पू.महाराजश्री के यहां ही इनका परिचय ठाकुर घनश्यामजी से हुआ। सन् १९४२ में जब ये वृन्दावन आईं थीं और उड़ियाबाबा के आश्रम में जिन रासबिहारी ने अपनी चपल मुद्राओं से, दिव्य रास नृत्य से इनके अन्तर को मुग्ध कर दिया था, ये वही ठाकुर थे। सन् १९५५ में जब ठाकुर घनश्याम दुसायत कालीदह रोड पर अपनी कुटिया में भजनरत थे तो भी अक्सर उनसे भेंट हो जाती। यमुना तट पर पू. बहिनजी सरलाजी के संग बैठी होतीं तो ठाकुर घनश्याम यमुना पुलिन पर घूमते दीख जाते थे पर परिचय महाराजश्री के यहां ही हुआ। ठाकुर घनश्याम जी महाराजश्री के अन्तरंग जनों में से एक थे। वे दिन रात

उनकी सेवा में मग्न रहते थे। पू.संतोष बहिनजी का वात्सल्य इन्हें देख उमड़ पड़ता, पर इस वात्सल्य से भी अत्यधिक प्रबल, ठाकुर घनश्याम के प्रति उनके ब्राह्मण होने से, श्रद्धाजनित भाव था। पू.बहिनजी की गरिमा से भलीभांति परिचित, उन्हें सत्कार देते हुए ठा॰ घनश्याम जितनी श्रद्धा से इन्हें नमन करने का प्रयास करते, उससे भी कहीं अधिक पू. बहिनजी इनके आगे नतमस्तक हो जातीं। दोनों का परस्पर एक दूसरे को नमन करने का होड़भरा वह दृश्य बहुत ही मन लुभावना होता। एक चंचल बालक की चपलता कभी हठीली दुबली-पतली पू॰बहिनजी की पकड़ को मात कर जाती और कभी इनकी जिद ठाकुर घनश्याम की सभी चतुराइयों को पराजित कर देती। इतना अपनत्वभरा संबंध था दोनों में, जिसका प्रमाण है कि जब पू.बहिनजी १९६५ में बिड़ला मन्दिर में पू.राधा बाबा के दर्शनार्थ गईं तो प्रणाम करने के वक्त अपना परिचय दिया– ''बाबा, मैं आपके घनश्याम की बहन संतोष।'' अस्तु॥

(विवरण पृ॰ 52 पर)

उड़िया बाबा आश्रम–

पू.संतोषबहिन जी धोबी गली वाले मकान में और अधिक नहीं रह पाई। उन्हीं दिनों पंजाब निवासी बनारसी भाई से इनका परिचय हुआ। बनारसी भाई की गोपीनाथ बाजार में कपड़े की दुकान थी और उनका घर भी यहीं था। इनकी व इनकी पत्नी की पू.संतोष बहन जी के प्रति अत्यधिक निष्ठा थी, सो सेवा करने के लोभ से ये इन्हें अपने घर ले आए। पू.बहिन जी तो नाममात्र को ही घर पर रहतीं। श्रीबांकेजी के संकीर्तन और महाराजश्री के सत्संग की अभिरुचि के साथ-साथ पू. संतोष बहिनजी को उड़ियाबाबा के आश्रम में हो रही रासलीला प्राणप्रिय थी। सिद्ध संत उड़िया बाबा व संकीर्तन सम्राट् हरिबाबा की उपस्थिति से आश्रम का वातावरण बहुत ही दिव्य और रसिकों के

मनोरूप था। पू.संतोष बहिनजी सरलाजी का हाथ थामे समय से बहुत पहले ही गोपीनाथ बाजार से पैदल उड़ियाबाबा के आश्रम में रास देखने पहुंच जाती थीं। हरगोविन्दजी रास से आधा घंटा पहले ही आ जाते थे और पदगान शुरू कर देते थे। ऊपर श्रीहरिबाबा अपने कक्ष में बैठे पदगान सुनते रहते थे और नीचे पंडाल में मात्र ये दोनों श्रोता बहनें उस सरस आनंदमय वातावरण में डूबी भावविभोर सी बैठी रहतीं। रास में तो रस बरसता ही था पर रास के पूर्व के इस आधे घंटे की रसमग्नता के लिए तो शब्द ही नहीं हैं। अपनी उस भाव स्थिति में इन्हें बाजार के कोलाहल भरे वातावरण को छोड़ रेल की पटरी के साथ-साथ एकान्तिक नीरव पथ से लम्बी दूरी तय करके आना ज्यादा रुचिकर लगता और इस तरह वे उसी भावभीनी दशा में ही घर पहुंच जाती।

श्रीगौरांग दास बाबा–

रास से आ झटपट प्रसाद पा, वे फिर इतनी धूप में गोपीनाथ बाजार से रमणरेती गौरांग दास बाबा की कुटिया में आ जातीं। शाम को पू.बाबा की कुटिया में संतों की संगोष्ठी होती और उस सत्संग में पू. बहिन जी की ठाकुर चर्चा की प्यास की अद्भुत झलक मिलती। सभी असुविधाओं, कष्टों से अविचलित, सरलाजी को संग लिए, प्रतिदिन नियम से ये गौरांग दास बाबा के यहां पहुंच जाती थीं। एक बार गौरांग दास बाबा के बारे में गद्‌गद कंठ से पू.बहन जी ने बताया था– ''गौरांग दास बाबा भक्त शिरोमणि थे। महान् भक्त होने के साथ-साथ बहुत ही अच्छे कथावाचक भी थे। निर्झरवत् अबाध गति से विभिन्न प्रसंगों की प्रस्तुति करते थे। उस समय उनकी देह में अश्रु, पुलक कम्पादि सात्विक भाव स्पष्ट ही दृष्टि गोचर होते। ऐसा लगता मानों वे भाव समाधि में डूब कथा कर रहे हों। श्रोतागण उस वक्त तन्मय हो उस अनिर्वचनीय भाव समुद्र में निमग्न होते थे।''

ये बताते-बताते मानो वे उस कथा संगोष्ठी में ही सम्मिलित हो गईं थीं। उन्हीं स्मृतियों में डूबी वे गौरांगदास बाबा के जीवन की अनेकों बातें सुना गईं। शरीर में वस्त्रों की जगह ब्रज रज लपेटने वाले, कंधे पर गुदड़ी और हाथ में करुआ लिए वैराग्य मूर्ति गौरांग दास बाबा के प्रति पू.संतोष बहिनजी की अगाध श्रद्धा थी। वे भी इन पंजाबी बहनों से बहुत ही स्नेह करते थे। बाबा 'नाम' पर बहुत ही जोर देते थे। पू. बहिनजी कहती थीं कि उन जैसा नाम का महात्म्य वृन्दावन में और किसी से नहीं सुना। वे कहते थे- *"मुखमेंनाम,आर्तप्राणऔरहृदय प्रार्थीहो,तोनामकीसरसताप्रभुकोएकदमसमक्षखींचलातीहै। नाम भाव की हिलोरें प्रभु दर्शन दिला देती हैं।"*

श्रीरामदास बाबा-

सन् १९५१ के नवम्बर माह की बात है। पू.संतोषजी को सूचना मिली- गौरांग दास बाबा के गुरु महाराज श्रीरामदास बाबा वृन्दावन पधार रहे है। श्री निवासाचार्य प्रभु के सूचक कीर्तन और अक्रूर घाट पर गौर आगमन उत्सव में शामिल होंगे। ये संदेश सुनते ही श्रीसरलाजी व पू.संतोष बहिनजी संत दर्शन के लिए अत्यधिक अधीर हो उठीं। रामदास बाबा के साथ समाज बाड़ी कलकत्ता से ढाई सौ के लगभग विरक्त साधु भी आए थे। प्रभु निवासाचार्य जी की स्थली तो इनके घर के एकदम पास ही थी, पर अगले दिन तक प्रतीक्षा का धैर्य कहां से लातीं। उसी दिन शाम को पू.बहिनजी सरलाजी के साथ गौरांग दास बाबा के आश्रम पहुंच गईं। रामदास बाबा के दर्शन की अत्यधिक लालसा थी पर भीड़ इतनी अधिक थी कि इनका उन्हें प्रणाम कर पाना संभव नहीं हो सका। अगले दिन सुबह-सुबह ही ठाकुर सेवा सम्पन्न कर पू.संतोषजी सरला जी का हाथ थामे निवासाचार्य प्रभु की समाधि स्थल पर पहुंच गईं। अहा, कैसा भक्तिमय वातावरण था। इतनी बड़ी

संख्या में वैरागी भक्तों की उपस्थिति से पूरी स्थली विरागमय ही हो उठी थी। निवासाचार्य प्रभु के छोटे से प्रांगण में भीड़ समा नहीं पा रही थी। सड़क पर ही नहीं, गोपेश्वर महादेव के चौराहे तक, श्वेत वस्त्रों में लिपटे, माथे पर तिलक और हाथों में माला झोली लिए विरक्त साधु खड़े थे। पू.बहिनजी उन्हें देख भाव विभोर होती जा रही थीं। तभी उनकी दृष्टि भीड़ में घिरे रामदास बाबा की ओर गई। इतनी दूर से दर्शन हुए कि ये प्रणाम न कर पाईं, इससे मन और भी व्याकुल हो उठा। इसी आकुल व्याकुलता में अगले दिन सुबह ही फिर चल पड़ीं रमणरेती गौरांग दास बाबा के आश्रम की ओर। आज गौरांग दास बाबा की स्नेहिल कृपा से परम पूज्य रामदास बाबा को पास से देखने, प्रणाम करने का सुअवसर मिल गया। श्वेत अल्प से वस्त्र, गले में फूलमाला, माथे पर लम्बा तिलक, नासिका के अग्रभाग को स्पर्श सा करता, बाजुओं में चंदन, दाहिने हाथ में माला झोली.... बहुत ही भव्य वपु था। भूमि पर चारों ओर भक्तों की भीड़ थी। पूरे सम्मान से थोड़ा झुककर, राह बनाती पू.संतोषजी बाबा के एकदम समक्ष पहुंच गईं। पूरी श्रद्धा के साथ भूमि पर मस्तक टिकाकर प्रणाम किया। सरलाजी भी साथ ही थीं। भूमि पर से शीश उठाकर जो बाबा को देखा तो पू. संतोष बहिन जी भाव विभोर हो गईं। बाबा के अधखुले नैन उनकी अन्तर्जगत में डूबी स्थिति के परिचायक थे। कक्ष की नीरवता और वहां बैठे लोगों की चुप्पी का रहस्य अब इनकी समझ में आया। बाबा के नयनों से निरन्तर अश्रुधारा बहकर कपोलों को रंजित कर रही थी। पिचकारी की तरह बहते ये अश्रु देख ये अवाक् रह गईं। इससे पहले पू.बहिन जी ने ऐसी अश्रुधारा, भावदशा में मुख से निकलते फेन, नासिका से झरते श्लेम के ऐसे प्रवाह को कदाचित् ही देखा होगा। अचंभित सी रह गईं वे।

पूरे वृन्दावन में पूर्णिमा के दिन रामदास बाबा के नगर भ्रमण में कीर्तन की खूब धूम थी। कीर्तन केशीघाट से शुरू होना था। ये सरला जी का हाथ थामे दोपहर दो बजे से ही केशीघाट की सीढ़ियों पर आ विराजीं। ठीक चार बजे कीर्तन ध्वनि और खोल करताल से यमुना पुलिन गूंज उठा। बाबा के मस्तक पर चन्दन लगाकर फूलमाला पहनाई गई और नगर भ्रमणं का उत्सव प्रारंभ हो गया। सबके आगे रामदास बाबा चल रहे थे। उनके आसपास दो बाबा जी गौर निताई के बड़े-बड़े चित्रपट लिए चल रहे थे। बाबा ने मदिर स्वर में कीर्तन आरंभ किया और शीघ्र ही सजल नेत्र और कंठ गद्‌गद हो गया। सभी सात्विक भाव भूषणों से युत बाबा की वह अद्‌भुत छवि.... पू.बहिनजी इस दुर्लभ अप्राकृत राज्य में डूबे बाबा के दर्शन कर खुद भी बेसुधि की स्थिति में आ गईं। कीर्तन खूब जोरशोर से हो रहा था। कुछ लोग रुदन भी कर रहे थे। ऐसा ही लग रहा था मानों आज ब्रजवीथियों में महाप्रभु की साक्षात् उपस्थिति हो गई हो। पू.बहिनजी तो मात्र दर्शन, प्रणाम करने आई थीं पर अनजाने ही मंत्रमुग्ध सी सरलाजी को साथ लिए सबके पीछे-पीछे चलती रहीं। कीर्तन गोपीनाथ बाजार से गोपेश्वर महादेव, रंगनाथजी के मन्दिर, अनाजमंडी होते हुए बनखण्डी और सेवाकुंज की ओर बढ़ने लगा। इमलीतला पहुंचते-पहुंचते काफी अंधेरा हो गया, तब इन्हें घर की सुधि आई। दोनों उसी मस्ती में मत्त घर पहुंच भावमग्न सी लेट गईं। आज भिक्षा की तो सुधि ही किसे होती। अहा, मन प्राण को संतृप्त करता उस दिन का वह नगर संकीर्तन। उसी आनंद में डूबी पू. बहिनजी फिर गौरांग दास बाबा के यहां पहुंच गईं। संत दर्शन की अतुलनीय त्वरा, सत्संग की अभूतपूर्व प्यास..... ये सब प्रयास करने पर नहीं आते। हरि की अहैतुकी कृपा ही अन्तर में ऐसी पिपासा जगा सकती है। आज रामदास बाबा अपेक्षाकृत काफी सजग मिले। गौरांग दास बाबा ने अपनी लाड़ली लाली का बाबा से परिचय करवाया। इनके प्रणाम करने पर वे बोले– "प्राण भर कर नाम करो। नाम-प्रेम में मन को डुबो दो। स्मरण रखो नामेर रुचि, जीवेर दया और वैष्णव सेवा......" और भी चर्चा हुई। पू.बहिनजी का जीवन तो पहले से ही इन तीनों चीजों से ओतप्रोत था और अब बाबा के मुख से सुन कर तो ये ब्रह्मवाक्य सा उन्होंने जीवन में आत्मसात ही कर लिया। अस्तु।

श्रीप्रियाशरण बाबा–

पू.संतोषबहिनजी के लिए वैष्णव संग मूलमंत्र सा ही बन गया था। भक्त पद रज लोलुप पू.बहिनजी लोभी भ्रमर की भांति ब्रजधाम के सभी संतों के चरणकमलों का पराग संचित करके भी अतृप्त सी दिनरात ठाकुर को पुकारती रहतीं। गौरांग दास बाबा के यहां ही इन्हें प्रियाशरण बाबा के दर्शन हुए। रामानंदी वैष्णव प्रियाशरण बाबा बिहार के बक्सर प्रांत के थे। एक बार छुट्टियों में वृन्दावन आए तो पंडित बाबा (श्रीरामकृष्ण दास बाबा) के आकर्षण से धाम से इस तरह जुड़ गए कि फिर बाहर कहीं जा ही नहीं पाए। इनकी श्रीमद्‌भागवत जी पर अगाध निष्ठा थी। पंडित बाबा का इतने दिन संग किया था सो गौड़ीय साहित्य पर अच्छी पकड़ थी ही; टटिया स्थान के भगवानदास बाबा के संग ने महावाणी के पाठ में भी रुचि उत्पन्न कर दी थी। ये अद्वितीय कथावाचक थे। गौरांग दास बाबा की तरह प्रियाशरण बाबा का भी पू.संतोष बहिनजी व सरलाजी पर सहज वात्सल्य था। ये इन पंजाबी बहनों की कृष्ण चर्चा की त्वरा से मुग्ध थे। पू.संतोष बहिन जी को समय असमय का तो ध्यान ही न रहता था। सरलाजी का हाथ थामे चल पड़तीं बिहारीजी के बगीचे की ओर। बाबा नल के पास बैठे दातुन करते-करते भी कितने ही प्रसंग सुना जाते और ये दोनों थोड़ी दूर बैठी, तन्मयता में उनकी बातें सुनती रहतीं। अगाध ज्ञान के भंडार

थे बाबा। अनेकों प्रसंग, सरस जीवनियां कुछ ही समय में सुना जाते और ये आध्यात्मिक चर्चा की लोभी मुग्ध सी बाबा के सामने बैठी रहतीं। प्रियाशरण बाबा राधानाम- धाम-इष्ट निष्ठा के अनन्य दृढ़व्रती, ब्रज के स्तंभ स्वरूप थे। नाम के प्रति उनकी निष्ठा एक ही वाक्य से उजागर हो जाती, जब वे कहते– ''मंत्र से कामना सिद्ध होती है पर नाम से कामनाओं का नाश होता है, प्रभु प्रेम मिलता है।'' ऐसी कितनी ही सार गर्भित सिद्धान्त-चर्चाओं की साक्षी है ये बिहारीजी की बगीची। बाद में प्रियाशरण बाबा बरसाने अधिक रहने लगे थे। पर जब भी वे वृन्दावन आते, पता चलते ही सरलाजी को लिए ये तुरन्त ही बाबा के दर्शन को दौड़ पड़तीं। बाबा वृन्दावन आने पर प्रायः बिहारी जी के पीछे अकोला वाली धर्मशाला में रहते थे। पू.बहिनजी खुद तो जाती ही, श्रीऊषा बहनजी व उनके परिकर की सभी बहनों को भी दर्शनार्थ अवश्य ले जातीं।

श्रीदुर्गी मां–

सन् १९५१-५२ की बात है। एक दिन पू.संतोष बहिन जी गौरांगदास बाबा के यहां सत्संग में गईं। वहां उन्होंने एक वृद्धा को भावावेश में मत्त पाया। इनकी पारखी नज़र तो ऐसे संतों की खोज में रहती ही थी। बस उसके साथ-साथ ही ये भी पैदल घर तक आईं। वृद्धा रंगजी के मन्दिर के पिछवाड़े में रहती थी। परिचय होने पर पता चला कि ये वृद्धा भी कश्मीर प्रदेश की ही थी। वृद्धा दुर्गी मां बहुत ही सरल स्वभाव की थी। वे वात्सल्य भाव की सिद्ध संत थीं। अपने गोपाल जी के साथ एक छोटे से कमरे में रहती थीं। खुद दैन्य की मूर्ति पूं. संतोष बहन जी दुर्गी मां की दीनता से अत्यधिक प्रभावित थीं। सबसे प्रभु दर्शन और अखंड वृन्दावन वास की भिक्षा मांगती दुर्गी मां की वास्तविक स्थिति पू.बहिनजी से छिपी न थी। गोपीनाथ बाजार में

रह रही पू. बहिनजी को जब भी समय मिलता झट दुर्गी मां के यहां पहुंच जातीं। उनके काम में हाथ भी बटा देतीं और उनके गोपाल को सम्बोधनकरतीं

, वात्सल्यभरी भावभीनी बातों का आनंद भी लेती रहतीं; पर असली लोभ उन्हें दुर्गी मां के कीर्तनानन्द का था। दुर्गी मां जब कमरे का दरवाजा बंद कर, उच्चस्वर से कीर्तन कर रही होतीं तो पू.बहिनजी बाहर बैठी उस में तन्मय हो जातीं। अहा! एक ही भाव सिन्धु की दो लहरियाँ......परिचय घनिष्ठता में बदल गया था। उसके बाद परस्पर आना-जाना भी लगा रहता। पू.संतोष बहिन जी से जो भी मिलने आता, उन्हें वह दुर्गी मां के दर्शनार्थ अवश्य भेजतीं। अस्तु! गौरांग दास बाबा की संगोष्ठी में इन पर वैष्णवों की अपार कृपा वृष्टि हुई।

दीक्षा-आग्रह–

पूज्य गौरांग दास बाबा पास ही व्यासघेरे में कथा कहने आते थे और जब केशीघाट जाने के लिए इनके घर के आगे से गुजरते तो दूर से ही ''लाली....लाली...'' कहकर पुकारते आते। ये भी उनके आगमन की बाट जोहती रहतीं। आवाज़ सुनते ही दोनों जल्दी-जल्दी सीढ़ियां उतर, दौड़कर उनसे जा लिपटतीं। बाबा इनसे खूब स्नेह रखते थे। इनका कंठ सूना देखकर कहते- ''लाली, सूना कंठ अच्छो न लगे'' इनकी सुपात्रता देख सभी दीक्षा को प्रेरित तो करते ही थे, पर इन्हें स्वप्न में दीखे ''बाबा'' का स्मरण हो आता था। दीक्षा का अभाव भी कभी महसूस नहीं होता था। इनकी दीक्षा के लिए कोई उत्कण्ठा ही नहीं थी। उन्हीं दिनों श्रीबांकेजी का भी दीक्षा के लिए आग्रह बढ़ता गया। बांकेजी के एक मित्र तो इन्हें दीक्षा दिलाने को और भी लालायित थे। पू.बहिनजी बहुत ही संकोच में थी। इनकी तो कोई अभिरुचि न थी दीक्षा में, पर बांकेजी ने जोर जबर्दस्ती से इन्हें मनवा ही लिया। तुलसी

माला, फूलमाला मंगवाकर इनसे कह दिया "कल दीक्षा दिलवा देंगे। सुबह- सुबह नहाधोकर आ जाइएगा।" पू.बहिनजी बहुत ही असमंजस की स्थिति में थीं। सरलाजी को भी ये जोर जबरर्दस्ती अच्छी न लगी। पर जहां आत्मीयता, अपनत्व अधिक होता है, वहां विरोध कर पाना इतना सहज नहीं हो पाता और फिर ये कुछ अनुचित आग्रह तो था नहीं, वह तो अनुग्रह समझ कर ही कर रहे थे। दीक्षा की प्रक्रिया का साधक के जीवन में निश्चय ही बहुत उत्कृष्ट स्थान हैं पर ये एक व्यक्तिगत चीज़ है और जन्म जन्मान्तर से सुनिश्चित होती है। और तो और देशकाल, गुरु, दीक्षा विधि सब पूर्व निश्चित होते हैं। यहां तो दीक्षा ग्रहण करने वालों का मन ही विद्रोह कर रहा था। पू॰ संतोषजी व सरलाजी दोनों ने ही बड़ी ही बैचेनी से रात काटी। निद्रा जैसे ही आई, पू.संतोषजी को फिर वही स्वप्नादेश हुआ। "बाबा" ने स्पष्ट कहा- मैं तुम्हारा गुरु हूं" आश्चर्य यह हुआ कि आज सरलाजी को भी साथ साथ ही आदेश हुआ। अन्तर सिर्फ इतना था कि पू.संतोष बहिनजी को स्वप्न में दर्शन भी हुआ और सरला जी को मात्र आवाज़ सुनाई दी, "मैं हूँ तुम्हारा गुरु।"

प्रातः उठते ही दोनों के चेहरे निश्चिंत और आह्लाद से भरे थे। जब एक दूसरे को स्वप्न सुनाया तो परस्पर के स्वप्न ऐक्य पर आश्चर्यचकित रह गईं। दोनों की मनोदशा का धरातल एक होने से, और एक ही गुरु से संबंधित होने से, ऐसा होना कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है। अब श्रीबांके जी के यहां उस आयोजन के लिए जाने का कोई औचित्य नहीं रह गया था। विधि का विधान, उच्चकोटि के अनुभूति प्राप्त संत होते हुए भी बांकेजी ने उस आयोजन की उपेक्षा को 'सहज' ही नहीं लिया और उनसे इनके संबंध, अपनी मधुरता खो बैठे। ये वहां जाती भी तो बहुत उपेक्षित सा, रूक्षता लिए व्यवहार मिलता। यहां

तक कि घंटों उनकी सीढ़ियों पर बाहर ही बैठकर आ जातीं पर उनका द्वार नहीं खुलता था। ये तो मान अपमान से बहुत ही ऊपर उठी हुई थीं। पर इनकी विरह व्याकुल भावदशा बहुत ही चिन्तनीय होती गई।

विरहातीत गंभीर दशा–

एक बार ऐसी ही मनोदशा में पू.संतोष बहिनजी गंगा मन्दिर में श्रीमहाराज जी के पास आ गईं। पू.देवीजी व पू.मनोहरदास बाबा महाराजश्री के पास ही बैठे थे। पू.बहनजी के अश्रु झरझरकर बह रहे थे। उनके करुण क्रंदन से पू.देवीजी व बाबा बहुत ही विचलित हो उठे। पूरे दिन पू.बहिनजी ठाकुरजी से साक्षात्कार की पिपासा में अश्रु बहाती रही। भावावेश में वे महाराजश्री के चरण पकड़े रहीं। विरहातीत दशा में पेट की सब आंतें अंदर घुस गई थीं, घुटने पेट में धंसे हुए थे, हिचकियां बंध गई थीं। तीन दिन निरन्तर उनकी यही दशा रही। सबको उनके जीवन का ही संशय सा होने लगा। महाराजश्री गंभीर अवस्था में बैठे हुए थे। पास ही बैठे पू.देवीजी व बाबा भी, उनकी इस विरह भाव दशा से व्याकुल हो रहे थे। तीन दिन बाद इनका रुदन शांत हुआ। इस अंतराल में इन पर क्या-क्या कृपा हुई, ये तो ये स्वयं ही जान सकती हैं। उसका अता पता इन्होंने कभी किसी को दिया भी नहीं पर इनकी इस दशा पर महाराजश्री ने उस दिन कहा था- "अगर थोड़े समय और यह विरह टिक जाता तो पूर्ण साक्षात्कार हो जाता।"

गुरु दर्शन- आत्मीय संबंध–

उसके कुछ ही दिन बाद पू.हनुमान प्रसाद पौद्दारजी (भाईजी) का वृन्दावन आगमन हुआ। यहां आने पर वे गीता भवन बिड़ला मंदिर में ही रहते थे, जो मथुरा और वृन्दावन के बीच स्थित है। पू.संतोष बहन जी को उनके आने की सूचना मिली तो वे तुरन्त ही सरला जी

को साथ लेकर पैदल ही बिड़ला मंदिर के लिए चल दीं। पू.भाई जी सपरिकर जहां ठहरे थे, वहां खूब भीड़ थी। बाहर बगीचे में ही इन्होंने देखा, लगभग ७०-८० लोगों के मध्य एक दुबले-पतले तेजस्वी संन्यासी को, जो अन्तर्मुख से सिर झुकाए अपने में ही लीन चुपचाप चले जा रहे थे। ये भौंचक्की सी उन्हें देखती रह गईं। अपनी आंखों पर इन्हें विश्वास ही नहीं हो रहा था। स्वप्न में देखी, स्मृतिपटल पर अंकित उस छवि को ही बहनजी इस समय साक्षात् देख रही थीं। कसकर सरलाजी का हाथ पकड़ा और आनंद मिश्रित आवेश भरे स्वर में बोलीं– ''सरले, वह सपने वाले बाबाजी'' सरलाजी का चेहरा हर्ष से खिल उठा। पू.संतोष जी ने पास खड़े व्यक्ति से पूछा– ''ये संन्यासी कौन हैं'' संक्षिप्त सा उत्तर मिला– ''राधा बाबा, गोरखपुर से आए हैं।'' ये अनायास कह उठीं– गोरखपुर में तो भाई जी रहते हैं।'' इनकी विस्मय जिज्ञासाभरी मुखमुद्रा देख, वह व्यक्ति बोला– ''ये राधा बाबा भाई जी के प्राणाभिराम हैं और भाई जी इनके प्राण। कहना मुश्किल है, कौन किसके प्राण।'' पू.राधाबाबा के दर्शन कर, इनके हर्ष का पारावार न था। उसके बाद ये सरलाजी को साथ लिए कई बार राधा बाबा के दर्शनार्थ गईं। पू.राधा बाबा उन दिनों ''काष्ठ मौन'' धारण किये थे। बहुत ही, अन्तर्मुखी थे। उनकी वृत्ति को बाह्य स्तर पर लाना बहुत ही मुश्किल काम था, पर शायद इनकी ओजस्वी वाणी का आकर्षण ही था कि जब इन्होंने प्रणाम करते हुए कहा– "बाबा! मैं आपके घनश्याम की बहन, संतोष, आपको प्रणाम करती हूँ'' तो बाबा की बंद आंखें स्वतः ही अधखुली सी हो गईं।" राधा बाबा ने कुछ क्षण इन पर दृष्टिपात किया और फिर अर्न्तमुखी हो गए।

गोरखपुर लौटने पर, काष्ठमौन की निवृति होने पर एक दिन पू.राधा बाबा ने घनश्याम ठाकुर से पूछा– ''भैया, वे दो बहनें कौन थीं जो वृन्दावन में प्रणाम करने आई थीं। उनकी अगाध निष्ठा ने मुझे

अन्तर्जगत से बाह्य दशा में आने को विवश सा कर दिया था।'' तब ठा. घनश्यामजी ने बाबा को पू.संतोषजी के विषय में बताया था। बाबा ने कहा– ''भैया, हम उन्हें एक पत्र लिखना चाहते हैं।'' राधा बाबा ने संतोषजी को एक ही बार देखा था, एक ही क्षण देखा था व पू.बहनजी ने भी प्रथम बार ही उन्हें देखा था। इतनी सी देर में बाबा ने उनके अन्दर कौन-सी ऐसी स्थिति देखी कि उनके मन में संतोषजी को पत्र लिखने का संकल्प जाग गया। ये प्रसंग वस्तुतः पू. बहनजी की उत्कृष्ट स्थिति का प्रमाण है। बहुत दिन बाद बाबा ने पू.संतोष बहन जी को पत्र लिखवाया। उस पत्र को श्री बंका जी ने अपनी पुस्तक 'वाटिका वातायन' में पृष्ठ २३८ पर प्रस्तुत किया है और इस पुस्तक में आगे पृ॰ ५५, पर दिया गया है। अस्तु। राधा बाबा के प्रत्यक्षदर्शन करने के बाद दीक्षा का प्रसंग सदा के लिए समाप्त हो गया।

पू.भाई जी व राधा बाबा जब कभी वृन्दावन आते तो पू.बहिन जी, सरला जी को संग ले नियम से उन्हें प्रणाम करने जातीं। एक बार जब वे बिड़ला मन्दिर पहुंची तो सामने ही पगडंडी पर से राधा बाबा जा रहे थे। अन्तर्मुखी राधा बाबा ब्रजधाम आकर मौन हो जाया करते थे। पू. बहन जी बाबा के पीछे-पीछे पग धरती धीरे-धीरे चल रही थीं और बाबा के पदचिह्नों से रज लेकर अपने और सरलाजी के माथे पर लगाती जा रही थीं। सामने से राधाबाबा को प्रणाम करना तो संभव ही नहीं था। इधर बाबा को तो उनके पीछे-पीछे आने का भान भी न था। तभी कौतुकी श्यामसुन्दर ने बाबा के सम्मुख प्रकट हो, उन्हें जताया- ''पीछे मुड़कर देखो, क्या हो रहा है।'' और जैसे ही बाबा मुड़े तो इन्हें चरणधूलि मस्तक से लगाते देख स्तब्ध रह गए।

एक बार पू.भाईजी व राधा बाबा का रावल गांव में आगमन हुआ। सूचना मिलते ही ये वहां जाने को व्यग्र हो उठीं। पर रास्ता मालूम न होने की वजह से और प्रज्ञाचक्षु सरलाजी का संग होने से रावल

जाना काफी असुविधाजनक ही नहीं, असंभव सा लग रहा था, फिर भी ये प्रभु कृपा के भरोसे सरलाजी को संग लिये चल दीं। बस स्टैंड पर पहुंचते ही एक परिचित मिल गए। वे भी रावल ही जा रहे थे। जब पू.बहिनजी रावल पहुंची तो भाई जी प्रसाद पा रह थे। उसी अवस्था में उन्होंने इनका प्रणाम स्वीकार किया, पर इनके उच्छिष्ट मांगने पर संकेत से ही इन्हें मनाकर दिया। ये भी अनूठी संत-प्रेमी थीं और भक्त उच्छिष्ट महाप्रसाद के लिये सदा लालायित रहती थीं। जैसे ही पू. भाईजी की थाली में एक कौर बचा, इन्होंने तपाक से वह अन्तिम ग्रास उठा लिया और कहा– ''यह तो मेरा हिस्सा है'' पू.भाई जी अवाक् से इन्हें देखते ही रह गए। फिर मंद मंद मुस्करा दिए। उस महाप्रसाद की कणिका सरलाजी को दे, शेष इन्होंने पा लिया। राधा बाबा का उन दिनों काष्ठ मौन था। उनके दर्शन होना सहज नहीं था। पर पू.भाईजी की अपार कृपा-ममता की पात्र बड़भागिनी पू.संतोष जी व सरलाजी! उस दिन भाईजी ने अपने संग लेजाकर इन दोनों को बाबा के दर्शन कराए। निश्चय ही भाई जी पू.बहिनजी के वास्तविक स्वरूप से भिज्ञ थे, इसलिए इनके प्रति उनकी विशिष्ट ममताभरी उमड़न रहती।

सन् १९६५ में पू.बहिनजी अभी गोपीनाथ बाजार में ही रह रही थीं। उन्हीं दिनों पू. भाईजी बिड़ला मन्दिर आए हुए थे। सुबह ही किसी से पू. बहिनजी को भाईजी के वृन्दावन आगमन का समाचार मिला था। वे अधीरता से बिड़ला मन्दिर जाने की प्रतीक्षा में बैचेन सी मकान की दूसरी मंजिल पर घूम रही थीं और कैसे जल्दी से जल्दी वहां पहुंचा जाएँ, इसी सोच में निमग्न थीं। एकाएक उनकी दृष्टि सड़क पर जा रही एक मोटरकार में बैठे कुछ व्यक्तियों पर पड़ी। इन्हें लगा पू.भाई जी भी उस गाड़ी में बैठे हैं। थोड़ा पास आने पर तो भाईजी स्पष्टत: दृष्टिगोचर हो गए। खुशी से इनका अन्तर उछल पड़ा। पू.

भाईजी उसी रास्ते से होकर पू॰ प्रभुदत्त ब्रह्मचारीजी से मिलने उनके संकीर्तन भवन वंशीवट जा रहे थे। हर्ष से विभोर संतोषजी झट नीचे उतरकर सरलाजी से बोलीं–''सरले, जल्दी से नीचे चलो, भाईजी जा रहे हैं। चलो दर्शन कर लो।'' अपनी उमंग में सरलाजी का हाथ थामे वे जल्दी जल्दी नीचे उतरने को प्रयासरत थीं कि सीढ़ियों में ही पू.भाईजी का नेहभरा स्वर सुनाई पड़ा–''जल्दी मत करो, धीरे-धीरे आओ। मैं यहीं खड़ा हूं।'' पू.भाईजी को अपने समक्ष देख, आनंद मग्न श्रीसंतोषजी ने उन्हें प्रणाम किया। बाद में वे पू.भाईजी के द्वारा भेजी हुई गाड़ी से ही बिड़ला मन्दिर राधा बाबा को प्रणाम करने गईं। कितना आत्मीयताभरा संबंध था पू.भाईजी व राधा बाबा का श्रीसंतोषजी के साथ।

भक्त शिरोमणि पू.राधाबाबा ने एक बार कहा था– ''वृन्दावन में संतोषजी को प्रणाम करना सौ महात्माओं को प्रणाम करने के समान है।'' क्या ही विचित्र आध्यात्मिक संबंध था, आश्चर्य होता है। उनकी परस्पर कभी भी बातचीत नहीं हुई। पू.बहिनजी कभी गोरखपुर नहीं गईं और राधा बाबा वृन्दावन की भूमि में आ, मौन हो जाते, पर पू.बहिनजी की राधा बाबा के प्रति अनन्य निष्ठा थी, पूर्ण शरणागति थी, अतुलनीय समर्पण का भाव था। बाबा का भी उनके प्रति कृपा-प्रवाह निरन्तर गतिमान रहता था,जो उन्होंने निज मुख से स्वीकारा। इसका प्रमाण उनके द्वारा लिखे पत्र से मिलता है– वृन्दावन वासिनी बेटी संतोष,

इस बार जब मैं बिड़ला मंदिर ठहरा तो जिन करुण आंखों से देखती हुई तू मुझे बोली थी 'आप नहीं बोलोगे, आप नहीं बोलोगे' यह तेरी बात अब भी मेरे कानों में निरन्तर गूंज रही है पर बेटी मेरी, जब भी मैं ब्रज की सीमा में जाता हूं तो मेरी मानसिक दशा कुछ विचित्र सी हो जाती है। मैं बोलना भी चाहूं तो बोल नहीं पाता। इसलिए बाहर देखने के रूप में मैं तेरी इस इच्छा की पूर्ति न कर सका। ठाकुर

घनश्याम पास था। उसे मैंने इशारा कर दिया था कि भैया बड़ी विचित्र मानसिक स्थिति है, इस कारण बोल नहीं पा रहा हूं। जो हो, तू तो शायद इस घटना को भूल भी जा सकती है किन्तु मेरे जीवन के साथ ये घटना जुड़ गई।

दूसरी बात बिल्कुल सच्ची-सच्ची बात लिखवा रहा हूं कि मैं तेरे साथ निरन्तर रहता हूं। बेटी मेरी अब तू इसे अनुभव कर पाती है कि नहीं, इसके संबंध में बेटी क्या कहूं? सरला बिटिया की याद भी मुझे निरन्तर बनी रहती है। रावल में जिस समय मैं गया था, उस समय केवल तुम दोनों को ही मेरी चित्तवृत्ति वास्तव में पकड़ रही थी। देख, नन्दनन्दन की कृपा का प्रवाह जब चल पड़ता है, फिर उसे कोई प्राणी रुद्ध कर ही नहीं सकता। अनंत त्रुटियों को लेकर भी किसी को स्वप्न में भी निराश नहीं होना चाहिए, यदि एक बार उसे अनुभव हो चुका हो कि भगवान ब्रजेन्द्र नन्दन ने मुझ पर कृपा का प्रवाह तो कर ही दिया है। तो 'बेटी मेरी, भगवान नंदनंदन की कृपा के प्रवाह से तू निश्चित रूप से अभिषिक्त हो चुकी है।' तुझे भले ही इसका अनुभव न हो और मेरी इस उक्ति का विश्व के प्रत्येक महात्मा खंडन कर सकते हैं किन्तु सत्य सत्य ही रहेगा और यह ध्रुव सत्य है बेटी मेरी। अतएव तू तनिक भी चिन्ता मत करना। जगत के दिए हुए सम्मान की जितनी उपेक्षा कर सके अवश्य अवश्य अवश्य करना। और अब तो तेरा अपमान, तिरस्कार, तेरे प्रति आदर बुद्धि का अभाव लोगों में स्पष्ट होने लगा है किसी अंश में, ऐसा मेरा अनुमान है। तो फिर तेरा भाग्य खुल गया, बिटिया मेरी। श्रीकृष्ण मृत्यु के बिन्दु पर तुझसे मिल जाने वाले हैं, इसकी तो पूर्व सूचना है और तेरे लिए उल्लास की बात होनी चाहिए। यहां सारांश यह है कि तेरे लिए स्वप्न में भी कोई चिन्ता की बात नहीं है। यदि तू विश्वास कर सकेगी कि बाबा ने कहा है अतएव अब क्या घबराना है,तब तो कहना ही क्या। पर यदि तू कहीं संशय भी

करेगी मेरी इस उक्ति में, तब भी मेरा विशुद्ध भाव नंदनंदन को बाध्य कर ही देगा, तुझे मृत्यु के समय अपने साथ ले जाने के लिए। बेटी मेरी ! और क्या कहूं।

(वाटिका वातायन से साभार)

अहा कितनी आत्मीयता से भरा है राधा बाबा का अपनी संतोष बिटिया को लिखा ये पत्र। निश्चय ही परस्पर कभी बातचीत न होने के बावजूद वे पू.बहिनजी की उत्कृष्ट आध्यात्मिकता से पूर्णतया भिज्ञ थे। कितने स्पष्ट शब्दों में उनकी स्थिति की घोषणा कर गए ''भगवान नंदनंदन की कृपा प्रवाह से तू एक बार निश्चित रूप से अभिषिक्त हो चुकी है...'' एक विशुद्ध संत की इस उद्घोषणा के बाद किसी भी संशय या प्रमाण को स्थान ही कहां और अहा... आत्मीयताभरे स्नेह की ढुरकन....बाबा, नंदनंदन को बहिनजी के अंतिम समय में आने के लिए बाध्य भी कर देंगे। पत्र में लिखी ये उक्ति बाबा की पू.बहिनजी के प्रति ममतामयी लाड़ की झलक दिला जाती है। इधर अपने अंतिम दिनों में एक दिन अस्पताल के कक्ष में हाथ उठा कह उठी थीं- ''राधा बाबा आए हैं– आरती करो'' अस्तु।

श्रीकृष्ण प्रेमी जी–

कृष्णप्रेमी जी संभवतः प्रथम विदेशी हैं जिन्हें ब्रजमण्डल में संत की उपाधि से विभूषित किया गया। मूलतः इंग्लैण्ड के निवासी रोनाल्ड निक्सन लखनऊ विश्वविद्यालय के वाइस चान्सलर की धर्मपत्नी यशोदा मां के प्रिय शिष्य थे। पू. संतोष बहिनजी की कृष्णप्रेमीजी के प्रति अगाध श्रद्धा थी। उन्हीं के शब्दों में– ''उन्हें देखकर मुझे लगा जैसे साक्षात् महाप्रभु ही हैं। वर्ण तो उनका गौर था ही, चेहरा भी असाधारण रूप से तेजस्वी था। मैं तो सोच भी न पाई कि ये विदेशी हैं। मुझे तो उनमें महाप्रभु के ही दर्शन हो रहे थे। सरला

और मैं उनको घंटों निहारते रहते। उनकी वजह से जगन्नाथ घाट के आसपास का पूरा वातावरण ही भक्तिमय हो गया था। वे हृदय, मन, प्राण को द्रवित करने वाला कीर्तन किया करते थे।''

सन् १९५७ की शरद पूर्णिमा के बाद की बात है। भोर का समय था। कृष्णप्रेमी जी जगन्नाथ मंदिर के बाहर बुर्ज पर खड़े भोर की चांदनी को अवलोकते अपने ही जगत में लीन कीर्तन कर रहे थे। उनके ठीक पीछे थोड़ी दूर ही चुपचाप खड़ी पू. संतोष बहिन जी तन्मयता से कीर्तन सुन रही थीं। सुधबुधहारी कीर्तन को श्रवण करते करते, अपनी भाव तन्मयता में श्रीसंतोषजी यमुनाजी में गिर पड़ीं। उन दिनों यमुनाजी टिकारी घाट तक बहती थी। कृष्ण प्रेमी जी छपाक् की आवाज से चौंके। झट यमुनाजी में कूद पड़े और इन्हें यमुनाजी से निकालकर लाए। इनके होश में आने पर कहने लगे– मैया, कीर्तन की इतनी दीवानी हो। यहां मत आया करो, मैं खुद ही यदाकदा तुम्हारी कुटिया पर आ कीर्तन किया करूंगा......'' और बाद में बहुत बार वे इनकी कुटिया पर पधारते। सरलाजी हारमोनियम बजाती, घंटों सभी कीर्तन की मस्ती में डूबे रहते।

एक बार आप इनसे बोलीं- ''आपके ठाकुर हमें बहुत अच्छे लगते हैं। उन्हें भोग लगाने की इच्छा है। क्या पाते है वे भोग में।'' कृष्ण प्रेमी जी ने कहा- "चना चबेना।" पू.संतोष जी ने सोचा संत ने संकोचवश ऐसा कहा है। आप दूसरे दिन रात भर भीजे बादाम आंचल में बांध कृष्ण प्रेमी जी के यहां पहुंच गईं। इनकी भाव निष्ठा देख वे हंस दिए। पू.संतोष बहनजी ने वहीं से यमुना जल ले ईंटपर पर पीसकर अपने आंचल से छानकर पेय बनाया और ठाकुर को भोग लगाया- इतनी प्रीति से बनाए इस पेय को ठाकुरजी ने कितने चाव से आरोगा होगा इस विचार से मन उनकी ठाकुर प्रीति और संत निष्ठा पर मुग्ध हो उठता है।

श्रीआनंद दास बाबा–

जनकपुरी के निवासी रामानंदी सम्प्रदाय में दीक्षित पू.आनंद दास बाबा भी भगवद् साक्षात्कारी विभूति थे। श्री हनुमानजी इनके इष्ट थे। निमाड़ प्रान्त में आपने संकीर्तन का बहुत प्रचार किया। श्रीवृन्दावन धाम में दुसायत में रह रहे आनंद दास बाबा के यहां रामनवमी, विहार पंचमी पर श्रीराम विवाह और तुलसी जयंती पर भगवद् संगोष्ठी जैसे उत्सव बहुत धूमधाम से मनाए जाते हैं। उन उत्सवों में करह वाले रामदास बाबा, नारायण स्वामी (मामाजी बक्सर वाले) और पंडित जगन्नाथ प्रसाद (भक्तमाली जी) जैसे उस समय के सभी संतों का आगमन होता। भक्त पद रज रसिक श्रीसंतोष जी तो सदैव ऐसे दुर्लभ आयोजनों की बाट जोहतीं। इन उत्सवों पर शामिल हो उन सबकी चरणधूलि बटोरने का अवसर सहज ही सुलभ हो जाता। पू.आनंद दास बाबा भी कभी कभी उनके यहां आया करते थे।

अदम्य इच्छा-शक्ति–

सभी वैष्णव संतों के प्रति उनकी श्रद्धा अनूठी थी, पर सरलाजी के प्रति उनकी महद् भावनाएं दैनिक दिनचर्या में भी झलक जाती थी। सन् १९५८ की बात है। पू.संतोषजी बहुत ही बीमार हो गईं। वस्तुतः ये अपने शरीर के प्रति अत्यधिक कठोरता बरतती तितिक्षामय जीवन बिता रही थीं और कभी कभी यह अत्यधिक कठोरता देह के लिए असहनीय बन, रुग्णता में बदल जाती थी। यह प्रसंग उन्हीं के शब्दों में– ''मेरा असह्य कष्ट देख, मकान मालिक की पत्नी मुझे सेवाश्रम दिखाने ले गई। साथ जाने को और था भी कौन। वहां घाव सुखाने के लिए मुझे सुई दी गई (शायद पैन्सीलिन इन्जेक्शन ही था क्योंकि बाद में वे पेन्सिलीन दवाइयों के प्रति बहुत सतर्क रहीं। उनकी

प्रतिक्रिया इनके शरीर में सदैव ही देखी गई।) वह दवाई शरीर के अनुकूल न पड़ी और मेरी हालत बहुत बिगड़ती गई, आक्सीजन भी देनी पड़ी। मैं बेहोशी की हालत में थी। उन दिनों सेवाश्रम टटिया स्थान के पास परिक्रमा मार्ग पर था। अधिकारी महाराज जी बहुत ही संवेदनशील और भक्त थे। उन्होंने पूछा– "कुछ कहना चाहती हैं आप?" मैंने झट कहा– मुझे यमुना किनारे ले चलो" महाराज जी को भी अहसास हो गया था कि मैं बचूंगी नहीं। मेरी अन्तिम इच्छा पूरी करने के लिए सामने ही यमुना पुलिन पर ले जाने की व्यवस्था कर दी। रज में कम्बल बिछा मुझे लिटा दिया गया। सरला जी को कुछ भी खबर न थी और इधर मैं बेहोश हो चुकी थी, पर घर पर बैठी सरला को इसकी प्रतीति हो गई। सबके दावा करने पर भी कि मैं ठीक हूं इन्जेक्शन लेकर अभी आ ही जाऊंगी, वह यही दोहराती रही "संतोषजी जा रही हैं। मुझे वहां ले चलो।" अन्ततः एक तांगा कर, पूछते-पूछते वह यमुना तट पर पहुंची और बोली– "संतोष जी! उठो, घर चलो।" उनके तट पर आ पहुंचते ही मैंने आंख खोल दी। सोचा "संतोष तू चली जाएगी तो इन्हें कौन देखेगा।"

इतना कह मेरी ओर देख पू.संतोषजी कहने लगीं। "ऐसी अलौकिक आत्मा थी सरला" और मैं मन ही मन मुग्ध सोच रही थी, 'और आप.... आप कैसी संत हो, जो सेवा के संकल्प से मृत्यु के सिर पर पांव रख फिर खड़ी हो गईं।' अपनी गरिमा को वह अपने मुख से क्या कहतीं, पर उनकी अदम्य इच्छाशक्ति विधि के विधान को भी टालने की सामर्थ्य को मैं समझ रही थी। उनकी इस स्थिति का प्रमाण उनकी अंतिम अस्वस्थता के समय कई बार मिला। अस्तु। उस दिन तो यमुना तट से उठ वे सरला जी के साथ घर आ गईं। महाराज जी इनके सकुशल घर लौट आने पर आश्चर्यचकित रह गए थे। वृन्दावन में इन्हें

घूमते देख विनोद वश कह उठते– "संतोष तो जा चुकी है– ये कौन है।" ये उसके बाद अस्पताल नहीं गईं। वहां की दवाई से इन्हें कुछ लाभ भी नहीं हो रहा था पर कष्ट असहनीय था। घाव फैलते जा रहे थे। इन्होंने तो ठाकुर से शिकायत करनी न थी, पर परीक्षा काफी हो चुकी थी। एक दिन पू. संतोष बहिनजी ने स्वप्न में एक आवाज़ सुनी– "कमीला लगाने से घाव सूख जाएंगे।" इन्होंने पू.मनोहरदास बाबा से कमीला मंगा कर लगाया। कुछ ही दिनों में सभी घाव ठीक हो गए। वस्तुतः इनकी असाधारण देह के लिए उपाय भी असाधारण ही होते। बाद में भी देखा गया, ये हर बीमारी में अपने पूरे शरीर पर विक्स मल लेतीं और ठीक भी हो जातीं। इनका हर कार्य अलौकिक सा ही होता था। पू.बहिनजी सभी की श्रद्धेया थीं, सभी की प्रणम्या थीं।

श्रीश्यामा माताजी (मजीठे वाली)–

वृन्दावन आने पर सभी परिचित श्रद्धालु प्रेमीगण इन्हें प्रणाम करने अवश्य आते। मजीठे में रह रही कृष्ण भक्ता श्यामा माताजी श्रीधाम की अनन्य प्रेमी थीं। लाहौर में ये सत्संग सम्मेलन में पू.संतोष बहिनजी को कई बार देख चुकी थीं। वहां सामीप्य का अधिक अवसर न मिलने पर भी इनकी श्रीसंतोष बहिनजी के प्रति अत्यधिक श्रद्धा थी। वृन्दावन आने पर तो इन्हें घंटों पू.बहिनजी के पास बैठे देखा गया। श्रीकृष्ण चर्चा में रत कब समय बीत जाता, पता ही न चलता। उनकी स्नेहिल निष्ठा का यही प्रमाण है कि उन्होंने अपने हाथ से सूत कातकर हरी चौड़ी किनारी डाल, पू.संतोष बहिनजी के लिए एक साड़ी बुनी और वृन्दावन आने पर बहुत ही श्रद्धा से इन्हें समर्पित की। साड़ी बहुत ही सुन्दर बनी थी। पर काफी भारी हो गई थी। पू.बहिन जी की दुबली पतली काया.....। उनके इतने स्नेह से ओतप्रोत इस साड़ी को उन्होंने एक दो बार धारण किया, फिर अलमारी में रख दी। ये

साड़ी इन्हें बहुत प्रिय थी। एक दिन प्रमिला जी जब इन्हें प्रणाम करने को आईं तो आप उनसे विनय सी करती बोलीं– "मुनिया, एक चीज दूं तुझे, मुझे वह प्राणों से भी प्रिय है। तू अगर पहने तो तुझे एक साड़ी दूं। बोल पहनेगी, तभी दूंगी।" निश्चय ही प्रमिलाजी के आनंद का पारावार न था। पू.बहिनजी की प्रसादी धोती, बिना मांगे मिल जाना .... कल्पनातीत बात थी। पू.बहिनजी का लाड़भरा कृपा दान था। पू. बहिनजी श्यामा माता की स्नेहिल श्रद्धामयी भावनाओं से भलीभांति परिचित थी। उनके भावों को उचित सत्कार देती हुई प्रमिलाजी जैसे उत्कृष्ट साधक पर ये प्यार उँडेल रही थीं। इस तरह प्रमिलाजी पर तो दो संतों की एक साथ कृपा-वृष्टि हो गई। वे उस वस्त्र को ओढ़कर भजन करने लगी। उस सुखद सुशीतल आंचल के आवरण में लिपटी जब ये भगवद् चिन्तन में बैठती होंगी, उस समय के सरस चिन्तन का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। पर कृपा को सहेजना भी बहुत ही मुश्किल होता है। इनके एक परिचित को इसकी भनक मिल जाने से उनका मन बेईमान हो गया और वे चुपके से वह साड़ी उठाकर ले गए। उनके इस दुःसाहस से प्रमिलाजी स्तब्ध सी रह गई,पर आज भी पू.संतोष जी के नेह में भीगी उस साड़ी के स्पर्श की स्मृति उन्हें पुलकित कर देती है।

श्रीद्वारिका सिंह जी–

लाहौर से ही परिचित द्वारिका सिंह जी भी वृन्दावन पहुंचने ही इन्हें प्रणाम करने अवश्य आते। लाहौर में संत नगर में रह रहे द्वारिका सिंह जी वहां संकीर्तन सम्राट के रूप में प्रसिद्ध थे। इनका मस्तीभरा कीर्तन दीवारों तक को गुंजायमान कर देता। पू.बहिनजी के प्रति इनकी अत्यधिक निष्ठा थी। वास्तव में इन सभी भक्तों के भावावेश को संयत और स्थिरता प्रदान करने की क्षमता हमारी पू.

संतोष बहिन जी में ही थी वरना कीर्तनावेश में द्वारिका सिंह जी तो अपने वस्त्र तक फाड़ डालते। अंतिम समय में जब द्वारिका सिंह जी को पक्षाघात हो गया तो अपने देहाध्यास की परीक्षा सी लेते वे अकेले ही डगमगाते कदमों से उस असमर्थ अवस्था में ही पू.संतोष बहिन जी के यहां पहुंच गए। कैसी सबल आश्रय थीं पू.बहिनजी। वहां पहुंचते ही उसी मस्तीभरे पदगान, कीर्तन ध्वनि से वातावरण को गुंजायमान कर दिया। उस बेसुधि में किसी भी रुग्णता, विवशता का ध्यान ही किसे रहता। उनके परिजन जब ढूंढते-ढूंढते वहाँ पहुंचे तो पू.बहिनजी, सरला जी व द्वारिका सिंह जी तीनों को ही उस दिव्य संकीर्तनमय साम्राज्य में डूबे, मस्ती से झूमते पाया।

संत श्रीसेवादास जी–

पूज्या संतोष बहिन जी के यहां आने वाले लाहौर के ही परिचितों में परम आदरणीय सेवादास जी भी थे। ये आजाद हिन्द फौजमें कर्नल थे और जेल से संन्यासी वेश धारण कर पलायन कर गए थे। नामधन से सम्पन्न सेवादास जी की नाम खुमारी नयनों से झलक, बरबस ही गुरु नानकदेवजी की याद दिला जाती थी। इनकी साधनास्थली हिमालय में धर्मशाला के पास "योल" में रही पर श्रीवृन्दावन आना जाना लगा ही रहता था। वृन्दावन आने से पू.बहिनजी से मिल, नाम चर्चा में बहुत ही सुखमय समय बीतता। ये पू.बहिनजी का बाजार से सामान ला देते और भी छोटे-मोटे काम बहुत ही श्रद्धा से करते। पू.बहिनजी भी इनसे कार्य लेने में संकोच नहीं करती थीं, इससे पू.बहिनजी की इनके प्रति अपनत्व की भावना झलकती है। श्रीऊषाजी व पू.संतोष बहिनजी के परिचय और मिलन में संत सेवादास जी का भी सहयोग रहा।

संत श्रीऊषाजी–

१७ नवम्बर १९५९ का मंगलमय दिवस। पू. संतोष बहिनजी की लाहौर से ही परिचित, अम्बाले में रह रही श्रीविमला नेविल जी का पत्र मिला। ये दिव्य विभूति धर्म जी की प्रिय शिष्या पूरनदई की सुपुत्री थीं और अम्बाले के सनातन धर्म कन्या विद्यालय में अध्यापनरत थीं। वहीं की प्रधानाचार्य श्रीऊषा जी श्रीधाम वास की लालसा से गृहत्याग कर सदा के लिए वृन्दावन आ रही थीं। समाचार पढ़ते ही पू. बहिनजी के उल्लास का पारावार न था। सरला जी को बार-बार पत्र पढ़कर सुना रही थीं। आनंदमग्ना ये दोनों उन विदुषी परम भक्ता के व्यक्तित्व को अपनी कल्पना में मूर्तरूप दे रही थीं.....गौरवर्णा, मध्यम कद, आकर्षक नैन, कंधे तक झूलते घुंघराले केश..। पहचान के लिए संभवतः विमला जी ने उनका चित्र भी सुलभ कराया था पर फिर भी कैसे पहचानेंगे ये उत्सुकता ही थी। यमुना तट पर किस ओर जाएगी। अहा... श्यामसुन्दर की एक और सखी निजधाम आरही है....। ये इसी सोच में डूबी थी कि पू.सेवादास जी आ गए। ऊषाजी की चर्चा चलते ही पता चला कि ये उनसे पूर्व परिचित हैं। अम्बाले में रह रहे इनके छोटे भाई योगेन्द्र के घर के ठीक सामने ही रहती थीं ये तेजस्विनी भक्तिमती ऊषाजी और सेवादास जी का उनके यहां आना जाना भी था। बस अब क्या था, इन सबने मिलकर योजना बनाई और बनारसी भाई को केशीघाट जाने वाले चौराहे पर खड़ा कर दिया।

पू.ऊषाजी तांगे से उतर यमुना पुलिन का रास्ता पूछ ही रही थीं कि बनारसी भाई संत सेवादासजी का संदेश दे, उन्हें अनुनय विनय कर जबरदस्ती पू.संतोष बहिनजी के यहां ले आए। पू.संतोष बहिनजी यों उमगकर ऊषाजी से मिलीं मानों युग युगो, जन्म-जन्मांतरों की घनिष्ठता हो। (शायद सच भी यही है।) पू.सरलाजी का वह मौन



...श्री, पूज्य ऊषा जी, पूज्य ललिता जी व उनके माता पिता के साथ, महाराज श्री के दायीं ओर पूज्य संतोष बहिनजी

मिलन और संत सेवादासजी का वात्सल्य पूर्ण आह्लाद.... श्रीधाम के इस गोपीनाथ घेरे की ये भावमय मिलन संगोष्ठी। संध्या की सुरमीली सुषमा पू. ऊषाजी के आगमन से और मदिर हो गई। संत सेवी पू. बहिनजी का आवभगत का स्वभाव था ही। लगभग १२ वर्ष पहले वृन्दावन आई अनुभवी पू.बहिनजी श्रीऊषाजी के लिए सुखद सुदृढ़ आश्रय बन गईं। पू.बहिनजी के वैराग्य, तितिक्षा, नाम, सेवा से प्रभावित श्रीऊषाजी की उनके प्रति अगाध श्रद्धा और आदर सम्मान की भावना थी। पू.बहिनजी इन्हें अकेले कहीं नहीं जाने देती थीं। लाड़ से इन्हें खिलाना पिलाना, बिहारीजी व अन्य देव दर्शन कराना, सब स्थलियों से परिचित कराना.... सभी उत्तरदायित्व पू.बहिनजी ने ही निभाए। वस्तुतः श्रीऊषाजी को वृन्दावन आने पर "यही" सबसे पहले मिली थी। चूंकि यमुनाजी के दर्शन करने से पहले ही पू.बहिनजी के दर्शन हो गए थे सो ऊषाजी सदैव इन्हें "छोटी यमुनाजी" कहती थीं। सच ही तो इनके दर्शन करने मात्र से ही श्रीयमुनाजी की ही तरह तन, मन, प्राण पावन हो श्रीकृष्णभक्ति से ओतप्रोत हो जाते। अस्तु, उस दिन ऊषाजी को जलपान करा, सभी आकर यमुना पुलिन पर बैठ गए थे। अहा! महाभागाओं की ये संगोष्ठी।

पूर्व पुण्य कहें या जन्म से अपनी स्वरूप स्थिति; श्रीऊषाजी श्रीकृष्ण-प्रियारूप से ही जन्म लेकर आई थीं। जन्म से ही स्वभावतः भक्ति स्वरूप ही इनमें देखने में आया। यह बालिका जैसे-जैसे बड़ी होती गई, भक्ति महारानी की दिव्य किरणें इनमें प्रस्फुटित हो चारोंओर विकीर्ण हो गई। काव्य प्रतिभा जन्मजात थी ही, धीरे-धीरे इस चन्द्रप्रभा से आकर्षित तारिका मण्डल एक विशाल रूप में एकत्रित हो गया और इनकी कृपा स्रोत से स्नात उच्चकोटि की कृष्णप्रियाओं के रूप में परिणत हो गया व ब्रजरस में डूबता गया। अपने पास आने वाले इस

मण्डल को इन्होंने उनके आने से पहले ही स्वप्न में देख लिया था। जैसे ये पू॰ऊषाजी के पास आते गए, वे इन्हें पहचानती गईं तथा आश्रय प्रदान करती गईं। सदा प्रेम का समुद्र इनके मन में लहराता था। ऐसा कौन होगा जो एक बार इनको मिला हो और इनके प्रीति बन्धन में बन्धन गया हो। ऐसे ही अटूट बन्धन से बंधी थी एक और श्यामप्रिया-सुशीलाजी।

श्रीसुशीलाजी–

अध्यात्म अभिरुचि सम्पन्ना श्रीसुशीला बहिनजी १७ वर्ष की आयु में पू.ऊषा जी से अम्बाले में मिली थीं। अपने भावावेश में या शायद श्यामसुन्दर की वंशी ध्वनि में अपना नाम सुन ये अवश सी वृन्दावन चली आई थीं। वापस लौटने पर पू.ऊषाजी ने अपने सेव्य ठाकुरजी की ओर इंगित कर कहा था- ''क्यों, इनमें वे नहीं दीखे, वही तो हैं ये।'' पू॰ ऊषाजी के ऐसा कहते ही इन्हें उन श्रीविग्रह में ठाकुरजी की प्रत्यक्ष झलक मिली। उसके बाद इन ठाकुरजी के प्रति तो इनकी अनन्य निष्ठा हुई ही, संत ऊषाजी के प्रति भी अत्यधिक श्रद्धा एवं समर्पण भरा भाव हो गया। उस रससाम्राज्य की सुखद चर्चाओं की साथी, उन अनुभूतियों की प्रज्ञाता सुशीला बहिनजी वास्तव में श्रीऊषाजी की अभिन्नप्राण हैं, मानों दो देह और एक प्राण हों। सुशीला बहिन जी का पू.ऊषाजी के प्रति अनूठा समर्पण का भाव था। मितभाषी, संकोची, दिन रात मौन सेवा में डूबी सुशीला बहिनजी पर जब श्रीऊषाजी के जाने के बाद परिकर की सारसम्हार का कार्य आन पड़ा, तो उस उत्तरदायित्व को भी इन्होंने बहुत ही कुशलता से निभा रही हैं। पू. ऊषाजी के ही अनुरूप ठाकुरसेवा, वैसे ही पाठ सत्संग की व्यवस्था और सभी उत्सवों का सुचारू रूप से आयोजन उनकी अद्वितीय

सामर्थ्य की झलक दर्शाता है। पू.संतोष बहिनजी भी इन्हें ''ऊषाजी स्वरूपिणी'' ही कहा करती थीं। अस्तु।

ऊषाजी लगभग छः महीने वृन्दावन रहकर कुछ दिनों के लिए अम्बाले गईं और फिर जब लौटीं तो पू.बहिनजी को और असुविधा न दे, वे रहने की कहीं और व्यवस्था कर लेने की सोच रही थीं। पर जैसे ही श्रीऊषाजी बिहारीजी के दर्शनों के लिए द्वार पर पहुंची तो सामने ही पू.मनोहर दास बाबा मिल गए। परस्पर अभिवादन के बाद ''कहां रहोगी'' का कुछ निश्चित उत्तर न सुन, पू. बाबा ने ऊषा जी के कंधे पर लटका उनका छोटा सा झोला अपने हाथ में ले, उन्हें बिहारीजी के दर्शन के लिए भेज दिया। बाहर आते ही बाबा उन्हें ठाकुर घनश्यामजी की कुटिया में ले आए, जहां महाराजश्री व पू.संतोषजी भी बैठे थे। इस प्रकार श्रीऊषाजी के रहने की व्यवस्था इस बार भी श्रीसंतोष बहिनजी के यहां ही हुई।

पू.संतोष बहिनजी के जीवन का साधन पक्ष बहुत ही गोपनीय रहा। उनके साथ रहने का सौभाग्य बहुत कम लोगों को मिला। सरलाजी प्रज्ञाचक्षु होने की वजह से जान ही न पाती थीं। श्रीऊषाजी बहुत ही भाग्यशाली व्यक्तियों में रहीं। दिन भर तो उनका सामीप्य मिलता, रात्रि की नीरवता में पू.बहिन जी की ठाकुरजी के प्रति आकुलता व्याकुलता की साक्षी भी वे बनीं। रात १० बजे के बाद सभी मौन हो जाते थे। सरलाजी, ऊषाजी व संतोषजी कोई भी बात न करती थीं। पूरी रात तीनों ही जागती रहती थीं। पू.संतोष बहिनजी की कुर्ते की जेब में उनकी जपमाला निरंतर गतिमान ही रहती। पू.बहिनजी के सुदुर्लभ संग में भीजी ऊषाजी कुछ महीनों बाद फिर अम्बाले चली गईं। पर श्रीधाम के आकर्षण ने ऊषाजी को अम्बाले में अधिक दिन रहने नहीं दिया। इस बार वे अपने सेव्य ठाकुरजी को साथ लेकर ही वृन्दावन आईं और

रहने की अलग व्यवस्था भी हो गई, पर पू.बहिनजी का नेह भरा प्यार दुलार उन्हें अन्तिम दिवस २० फरवरी १९९२ तक मिला। इस सुहृद सखीत्व का आधार थे पू॰ऊषाजी के सेव्य ठाकुर और "सखाजी" द्वारा प्रदत्त लीलाएं, जो इन गोपी स्वरूपा प्रेमिल हृदयों को परस्पर सुदृढ़ता से जोड़े हुई थीं। पू.बहिनजी की इन ठाकुरजी के प्रति इतनी प्रगाढ़ आत्मीयता और अन्तरंग निष्ठा थी कि अक्सर ही पू॰ ऊषाजी के साथ-साथ वे ही अनुभूतियां पू.संतोष बहिनजी को भी हो जाती थीं। परस्पर एक दूसरे के प्रति इनका आदर भाव देखने योग्य था। श्रीऊषाजी पू. बहिनजी के हर आदेश को ब्रह्मवाक्य मान प्राणप्रण से पूरा करने में जुट जातीं, इधर श्रीऊषाजी को अपने ठाकुर की प्रीति भरी लाड़मयी प्राणपगी सेवा करते देख पू.संतोष बहिनजी मुग्ध ही उठतीं। उनका पू॰ ऊषाजी के प्रति अत्यधिक श्रद्धाभरा स्नेह था।

बंगाली मां से परिचय–

एक दिन पू.संतोष बहिन जी श्रीऊषाजी को लेकर राधारमण मन्दिर के पास ही छोटी गली में रह रही एक बंगाली भक्त महिला के दर्शन करने गईं। ये भक्ता सुभाषचन्द्र बोस जी की भुआ थीं। १५ वर्ष की छोटी सी आयु में इनके पति चल बसे थे। उसके थोड़े दिन बाद ही ये श्रीवृन्दावन धाम आ गई थीं। इनके गले में एक रुद्राक्ष था, जिसके विषय में धारणा थी कि शिवजी ने स्वयं उन्हें वह रुद्राक्ष प्रदान किया था। जो भी उन्हें प्रणाम करने जाता वह उसके माथे से इस रुद्राक्ष को छुआकर आशीर्वाद देती थीं। इन भक्ता का वात्सल्य भाव सिद्ध था। जिन्दगी में हर विषम परिस्थिति में ये गोपालजी को पुकार उठतीं। गोपालजी इनकी सुनते भी थे, इसीसे इनकी गोपालजी के प्रति भावना और और दृढ़ होती गई। अन्ततः इनका संसार गोपालजी तक ही सिमटकर रह गया था। वे अपने गोपाल की सेवा में ही डूबी रहतीं।

कभी उन्हें हवा करतीं, कभी गोदी में उठातीं, कभी बिस्तर में सुलातीं। सेवा करते हुए घर के काम करते-करते बीच-बीच में गोपालजी को झांकती रहती, उच्चस्वर में उनसे बातें करती। गोपालजी को ही वे भक्ति ग्रन्थ भी पढ़कर सुनाती। पू.संतोष बहन जी उन बंगाली मां की सरल भक्ति पर मुग्ध थीं। ये भी पू.संतोष बहनजी को बहुत ही प्यार करती थीं। जैसे ही गली में से श्रीसंतोषजी की "मां...मां...." की लाड़ भरी टेर सुनतीं तो सब काम छोड़कर झट द्वार पर आ जातीं। पू. बहिनजी ने ऊषाजी के परिकर की सभी बहनों को उनसे मिलवाया। श्रीधामकिंकर बाबा भी इन बंगाली मां के पास ही रहते थे,वे जगद्बन्धु जी के शिष्य थे। जब कभी उनके आश्रम में किसी उत्सव का आयोजन होता तो बंगाली मां पू.संतोष बहिनजी को अवश्य सूचना भेजतीं। पू. बहिनजी भी सरला जी व अन्य कई लोगों को साथ लेकर उन उत्सवों में शामिल होतीं। वस्तुतः पू.बहिनजी तो सभी सम्प्रदायों को सम्मान देती थीं और धाम किंकर बाबा इनके स्नेह के पात्र भी थे। जब १९८१-८२ में पू. बहिनजी राधारमण घेरे में कपूर साहब के यहां रह रही थीं, तो धाम किंकर बाबा ही उनका बाजार का पूरा काम करते थे। उनकी पू. बहिनजी के प्रति अत्यधिक श्रद्धा थी।

सेवा स्वरूपिणी–

"सेवा-प्रधान साधनांग"

'सेवा धर्मः परम गहनो योगिनामप्यगम्यः'

सेवाधर्म अत्यन्त गंभीर है, इसमें योगियों की भी गति नहीं है। अपने प्रयास से जो साध्य वस्तु वर्षों में भी प्राप्त नहीं होती, वह सेवा से सहज ही सुलभ हो जाती है। पू.संतोष बहिनजी बहुत जोर देकर सेवा का महत्व बताते हुए कहती थी "सेवा सबसे बड़ा साधन है।" उनके जीवन में संत-सेवा ही प्रधान साधन दीखती है। सन् १९६० के

आसपास की बात है। पू.मनोहर दास बाबा मौन थे। उन दिनों पू. संतोषबहन जी ने उनकी तन-मन-प्राण से सेवा की। उनकी "सेवा परमोधर्म:" की आदर्शमयी झलक देखने को मिली। पू.मनोहर दास बाबा उन दिनों सूरजघाट पर एक कुटिया में साधनारत थे। अक्सर मौन ही रहते थे। किसी से भी बात नहीं करते थे। आंख भी उठाकर नहीं देखते थे। किसीसे मिलना जुलना भी नहीं था। केवल कभी-कभी पू. महाराज जी उनके पास चले जाया करते थे। साथ वाले कमरे में बनवारी शरण जी रह रहे थे। उन दिनों बाबा का पूरा उत्तरदायित्व पू. संतोष बहिनजी ही संभालती थीं। कुटिया की सफाई, खानपान की व्यवस्था, कपड़े धुलवाना, सम्भालना.....सभी काम वे पूरे मनोयोग से करतीं। आंधी तूफान कुछ भी इन्हें कभी सेवा से विमुख नहीं कर सका। धूप में दोपहर २.१/२ बजे हाथ में दूध का डोल लिए यमुना पुलिन के साथ-साथ परिक्रमा मार्ग से नंगे पांव जाते अक्सर ही दीख जातीं। ठाकुरजी को चाय का भोग यहीं आकर लगाती थीं। बाबा उन दिनों साधना में डूबे थे। आहार के प्रति उनकी अरुचि व निर्लिप्तता स्वाभाविक ही थी। उन दिनों पू.बहिनजी का उनके प्रति वात्सल्य भाव मानों उमड़ पड़ा था। ये चुपचाप बादाम पीसकर दूध में डाल इन्हें पिला देती थीं और भी किसी बहाने इन्हें पौष्टिक भोजन खिला देती थीं। बाबा वस्तुत: परेशान भी हो जाते पर इन्हें कुछ कह नहीं सकते थे। इनकी सेवा निष्ठा और प्रेम के समक्ष सभी नतमस्तक हो जाते।

अधिकतर बाबा के लिये प्रसाद लेकर ये स्वयं ही उनकी कुटिया तक जातीं। कभी-कभी कारणवश अगर न जा सकें तो श्रीऊषाजी के परिकर की किसी बहन के हाथ भी भेज देती थीं। एक दिन पू.बहिन जी स्वयं बाबा की कुटिया पर नहीं जा सकीं। उन्होंने बाबा का प्रसाद श्रीसुशीला बहनजी के हाथों भिजवा दिया। बाबा मौन

थे। पू.संतोष बहनजी का संदेश व्यक्त करने में शब्दों का कुछ हेरफेर हो गया। पता चलने पर पू.संतोषबहिनजी ने तो रौद्ररूप धारण कर लिया। पू.सुशीला बहन जी चुपचाप उनकी प्रताड़ना को सह गईं। श्रीऊषा जी उस वक्त यमुना जी गई हुई थीं। पू.संतोष बहिनजी का क्रोध जब कुछ शांत हुआ तो झट उनके यहां पहुंची। श्रीसुशीलाजी को वहां न देख बहुत ही चिंतित हो गईं। आशंकाओं से उनका मन घबराने लगा। सोचने लगीं, इतनी प्रताड़ना से व्यथित श्रीसुशीलाजी कुछ अप्रिय न कर बैठें। कोमल मन द्रवित हो चुका था, कुछ रुंआसी सी हो उठीं। थोड़ी देर बाद सुशीलाजी यमुनाजी से वापस आ गईं। इन्हें सकुशल देख, हर्षित हो, प्रीतिवश पू.संतोष बहनजी ने इन्हें हृदय से लगा लिया और उस दिन का अपनत्वभरा ये आलिंगन उनका सुशीलाजी को पूर्णतया अपनाने का प्रतीक स्वरूप ही था। ये प्रसंग कुछ दिन पहले ही पू.सुशीला जी के मुख से गद्गद वाणी में सुना। सुनाते-सुनाते पू. सुशीला बहनजी कह उठीं- "उस दिन मुझे अहसास हुआ, साधक को वास्तव में कितना मितभाषी होना चाहिए। विशेषत: उस समय जब संदेश वाहक के रूप में कुछ काम करना पड़े।" अस्तु, उस दिन की डांट फटकार और फिर हृदयस्पर्शी आलिंगन का सौभाग्य श्रीसुशीलाजी को पू.बहिनजी की अपने प्रति अपनत्व की भावना को आज भी पुलकित कर रहा था। अस्तु।

पू.मनोहरदास बाबा के प्रति संतोष बहिनजी का बहुत ही श्रद्धाजनित वात्सल्य रहा। उनका जरा-सा भी दु:ख ये देख नहीं सकती थीं। अगर एक दो दिन बाबा न आ पाते तो ये व्याकुल हो जातीं और उन्हें देखने उनकी कुटिया पर पहुंच जातीं। पू.संतोष बहिनजी की बाबा के प्रति वात्सल्यभरी सम्हार पू.बाबा के ही शब्दों में-

"एक बार मैं वेणु विनोद कुंज के आंगन में छत से गिर गया। मदन मोहन मन्दिर के पास एक कुटिया में रहता था। सुनते ही ये बहुत ही व्याकुल हो गईं। भागकर कुटिया पर आईं। मेरे पैर में काफी मोच

आ गई थी। चला ही नहीं जाता था। जाड़ों के दिन थे। ये झट से अंगीठी, कोयला, मालिश का सामान स्वयं खरीद कर लाईं व सेंकने की व्यवस्था कर दी। मैं नीचे नहीं बैठ सकता था, सो बाजार जाकर कपड़ा खरीद कर लाईं, रुई लाईं व अपने हाथ से सीकर बैठने के लिए गद्दी व तकिया बनाकर लाईं। रोज आकर मेरी सब सम्हार करतीं। चार महीने में जाकर मेरा पैर ठीक हुआ। जाड़े में ओढ़ने के लिए शाल,वस्त्र का भी पूरा ध्यान रखतीं। इनका मुझ पर अत्यन्त स्नेह रहा।"

विशिष्ट अनुभूतियां–

पू.बाबा की इस सार सम्हार से स्पष्टतया पू॰ संतोषजी का 'सेवा-प्रधान साधनांग' का वास्तविक स्वरूप देखने को मिलता है। इन सेवामयी का चित्त तो हरक्षण अपने प्राणप्रिय श्यामसुन्दर में ही संलग्न होता। जब कभी पू.मनोहरदास बाबा आते तो आठ-आठ घंटे निरन्तर ठाकुर चर्चा में बीत जाते। पास ही बैठी सरलाजी और अन्य व्यक्ति मुग्ध हो सुनते रहते। सन् १९६३ की दीवाली के बाद की बात है। भाई दूज का दिन था। पू.संतोष बहन जी के यहां ही सब बैठे थे। पू.बाबा, पू.बहिनजी, श्रीसरलाजी व श्रीऊषाजी ठाकुर की सुखद चर्चा में रत थे। पू॰ऊषाजी ने बाबा से कहा– "भइया ! आज भाई दूज है, कुछ तो दो" (पू॰ बाबा को वो भइया कहती थीं) पू.बाबा गंभीर से हो गए, ध्यानमग्न हो गए। कक्ष में नीरवता छा गई। तभी ठाकुरजी की स्फुरणा हुई। उनकी उपस्थिति का आभास वहां बैठे सभी को हुआ। वस्तुतः जहां ठाकुर चर्चा इतनी संलग्नता से हो रही हो तो उनकी वहां उपस्थिति होने में संशय ही क्या। इसी को पू.महाराजश्री "चर्चा अवतार" से संबोधित किया करते थे। घंटों सभी उस सरस अनुभूति में विभोर रहे। सच तो यह है, इन सभी संतों का ठाकुरजी से हरपल का सान्निध्य था और इसकी झलक अक्सर ही प्रकट भी हो जाती थी।

एक बार पू.संतोष बहन जी बांके बिहारीजी के दर्शन के लिए गईं। लावण्य सींव श्री बिहारी के सौंदर्य से अभिभूत पू. बहन जी कह उठीं- "अहा.. तुम नीलमणि से भी अधिक सुन्दर हो...." अपनी प्रिय सखी के मुख से इस प्रकार से प्रशंसित हो बिहारीजी और भी इठलान से भर उठे, उनकी छवि और और भावमयी हो गई। पू.संतोष बहनजी को खिजाते हुए कह उठे– "पर मणि तो पत्थर है..." यों कह खिलखिला दिए। उनकी इस खिलखिलाहट पर पू.संतोष बहनजी और भी रीझ उठीं और फिर बोलीं– "नीलमणि- पर नवनीत से भी कोमल।" प्रेमिल हृदयों के इन संलापों की थाह पाना कोई सहज तो नहीं पर यदाकदा उस रससिन्धु की उमड़न छलकती भी रहती है।

सन् १९६४ में गर्मी के दिनों की बात हैं। पू.ऊषाजी ने अपने सेव्य ठाकुरजी के लिए लाल रंग के वस्त्र बनाए। ये मुलायम सा कपड़ा पू.देवीजी ने दिया था और उन पर उर्मिल राजेश्वरी बहन ने मुकैश का काम किया था। सफेद मुकैश के ये लाल वस्त्र बहुत ही सुन्दर बने थे। श्रीऊषा जी जब भी इन्हें ठाकुरजी को धारण करातीं तो बहुत ही मनहर झाँकी होती- ठाकुरजी ने ये वस्त्र बहुत ही मन से पहने। तीन चार साल बाद पू.ऊषाजी ने वे वस्त्र किसी को देने का मन बना लिया था। श्रीश्री ठाकुरजी अपनी "प्रिय सम्पत्ति" किसी और को देने की शिकायत ले पू.संतोष बहिन जी के पास पहुँच गए। उन्हें दिखाई दिया कि ठाकुर जी हाथ पैर पटक पटकर खीज भरे स्वर में कह रहे हैं। "मेरे सारे वस्त्र दे दिए, मेरे सारे वस्त्र दे दिए।" पू.संतोष बहिनजी ने आकर ऊषा जी को बताया। पू.ऊषा जी हँस पड़ीं ठाकुर की इस नटखटी पर। वस्त्र फिर भी इन्होंने दे ही दिए। भक्त भगवान के बीच की ये सरस रार.... पर ठाकुर की प्रियता ही तो इनकी प्रियता थी। फिर पू.देवीजी से पूछ बैठीं, "वैसा लाल वस्त्र और है क्या" क्या ही

आश्चर्य चार साल बाद भी पू.देवीजी से वही वस्त्र फिर मिल गया। उन्होंने किसी को देने के लिए रखा था पर भूल गई थीं और इस तरह ऊषाजी ने बिल्कुल वैसे ही वस्त्र ठाकुरजी के लिए फिर बनाए। इन ठाकुरजी को लाल रंग के वस्त्र बहुत ही भाते हैं। अस्तु। पू॰ऊषाजी के इन ठाकुरजी व पू.बहिनजी की उनके प्रति प्रीति के कई मधुर प्रसंग हैं।

एक बार पू.महाराजश्री घनश्यामजी को साथ ले, रात्रि नौ-साढ़े नौ बजे पू॰ऊषाजी के ठाकुरजी के दर्शनार्थ आए। श्रीऊषाजी ठाकुर घनश्याम जी से एक पद प्रायः सुना करती थीं *"एरीतेरोकछुदोष नहीं,मेरोपियररसिया।"* उस दिन भी उन्होंने बड़ी उमंग से भर ये पद सुनाया। पद की इस रसमयी पंक्ति की बार-बार पुनरावृत्ति भी करते रहे। सभी उस विशेष रस में डूबे हुए थे। पू.ऊषाजी के क्रीड़ा कौतुकी ठाकुर उन्हें स्पर्श सुधा रस में बोरते हुए खिजाते-चिड़ाते से साथ-साथ गाते रहे "मेरी प्रिया रसिया।" क्या ही सुखद आश्चर्य कि रात्रि को यहां हो रही इस सरस प्रसंग की साक्षात् अनुभूति पू.संतोष बहिन जी को अपने घर बैठे-बैठे ही हो रही थी। अगले दिन पू. बहिनजी पू॰ऊषाजी के यहाँ आ उन्हें छेड़ते हुए कह उठीं- ठाकुर ने तुम्हारी पोल खोल दी। मैं ही रसिया थोड़े ही हूं यह भी तो मेरी रसिकनी है।" पू॰ संतोष बहिनजी के मुख से ठाकुरजी की रसिकनी सुनते ही श्रीऊषाजी का मुखमण्डल आरक्त हो गया।

पू.संतोष बहनजी की ठाकुरजी के साथ प्रीति प्रगाढ़ता यहां तक देखने को मिली कि यदाकदा ठाकुरजी संतोषजी का वेश धर कुछ कौतुक कर जाते। एक बार पू॰ऊषाजी पेट के दर्द से बहुत ही बेचैन हो रही थीं। उन दिनों वे अनन्त प्रेम धाम में रह रही थीं। वे चटाई पर लेटी हुई थीं। अचानक दरवाजा खुला, पू.संतोष बहनजी ने अन्दर प्रवेश किया। इनको इस तरह दर्द से व्याकुल देख पास ही चटाई पर

बैठ गई और स्नेहवश इनके पेट पर हाथ रक्खा, दर्द ठीक हो गया। ऊषाजी के 'दर्द ठीक हो गया', कहने पर भी हाथ फिराती रहीं। पू॰ऊषाजी के मन में कुछ शंका सी होने लगी। स्पर्श भी असाधारण, पुलकित कर देने वाला था। उन्होंने सिर उठाकर देखा तो वे हाथ पू. बहनजी के न थे, स्वयं श्यामसुन्दर ने छद्मवेश धारण किया था। अपना चांचल्य प्रकट करते रसिक शिरोमणि, छद्म शिरोमणि सामने ही प्रकट हो गए। अस्तु- पू.बहिनजी की ठाकुर संलग्नता और ठाकुरजी के सरस कौतुकों के अनेकों प्रसंग हैं।

मातृ वियोग-

सन् १९६३ के अंत में मां चानन देई संतोषजी के पास ही आकर रहने लगी थीं। सुपुत्री के भाग्य से इन्हें भी जीवन के अंतिम कुछ समय वृन्दावनवास मिल गया। पू.संतोष बहिनजी ने भी सरला जी के साथ-साथ मातृसेवा के अवसर का पूरा-पूरा लाभ उठाया। उनकी पलपल की आवश्यकता समझ, उनके मन के अनुकूल प्राण पगी सेवा की। सन् १९६३ की बसंत पंचमी के बाद तो मां चानन देई का स्वास्थ्य बहुत ही चिन्ताजनक हो गया। उस वक्त तो श्रीसंतोषजी के लिए मातृसेवा मानों भगवद्सेवा का ही स्वरूप बन गई। ऐसी सेवा प्रयत्न करने से नहीं होती और न ही प्रत्येक व्यक्ति कर सकता है। पानी में उबाल उबालकर उनके पकड़े धोतीं। इससे उनके अपने हाथ व कोहनी तक बाजू गल गए, केवल मां के तन की ही सेवा नहीं की, अपितु दिनरात उन्हें 'गुरुबानी' सुनाकर आत्मिक तृप्ति भी प्रदान की। अन्ततः कार्तिक पूर्णिमा के दिन, लगभग दस मास इनकी अद्वितीय सेवा स्वीकार कर, मां चानन देई परलोक सिधार गईं। मां के शरीर शांत होने पर ये जरा भी विचलित नहीं हुईं। पूर्णरूपेण अनासक्ति की

मूर्ति ने श्मशान में जाकर स्वयं मां का दाह संस्कार किया। दाह संस्कार करवाने वाले बलराम पंडित बड़े विद्वान और वृन्दावन के मान्यगणों में थे। पू.संतोषजी चिता के समीप बैठ गईं व बलरामजी से कहने लगीं, "पंडितजी गीत गोविन्द का कोई पद सुनाइए।" ओह ! निर्विकार स्थिति की पराकाष्ठा पर प्रतिष्ठित पू.संतोष बहिनजी ! मातृ-वियोग के इस दाह संस्कार जैसे करुण वातावरण में भी अपनी उसी ठाकुर संलग्न स्थिति में डूबी पू.संतोष बहनजी। पू.बहनजी की ये स्थिति देख, बलराम पंडित विस्मय विमुग्ध हो, जोर से रो पड़े।

दिनरात सरलाजी व मातृसेवा में रत रही पू.बहिनजी का जीवन अपने लिए तब भी उतनी ही कठोरताओं से भरा हुआ था। व्यस्ततम दिनचर्या और नाममात्र को आहार, निद्रा भी अल्प समय की ही थी, फलस्वरूप उनका बीमार पड़ जाना अवश्यंभावी ही था। सन् १९६४ में पू. बहिनजी बहुत ही बीमार रहीं। उनके असहनीय कष्ट से सभी विचलित हो गए। उस बीमारी के समय भी उनकी उच्च स्थिति का वर्णन करते पू.ऊषाजी ने एक बहन को १७ अक्टूबर १९६४ को पत्र में लिखा था–

"पूज्या बहिनजी अभी तक ठीक नहीं हैं। उनका कष्ट देखा नहीं जाता। श्रीहरिः अपने जनों को तपाकर हम जैसे जीवों को शिक्षा देते हैं। कल पू.बहिनजी से बात हुई, कहने लगी- 'शरीर को बहुत कष्ट है पर इसका कारण है मन की व्यस्तता। दिन में एक दो बार जब भी मन अन्य किसी विचार से शून्य हो जाता है तभी करुणामय की ममता का भान हो जाता है। उस समय शरीर को कोई कष्ट प्रतीत नहीं होता' और कहने लगीं- 'ठाकुर कोई दूर नहीं है..पास ही हैं- नित्य संग हैं पर हम अपनी व्यस्तता में उनके सामीप्य को अनुभव कर ही नहीं पाते। मन उस क्षणिक सुख में डूब इतना विभोर हो जाता है कि

शरीर के दुःख सुख का भान नहीं रहता।' इतनी अस्वस्थता में कही गई ये सारतत्व की बातें.... उनकी निश्चिंतताई...।"

निज-मृत्यु आभास–

पू. संतोष बहिनजी को इस बीमारी के दौरान अपनी मृत्यु का आभास सा हुआ। लगा कि दिसम्बर के किसी भी रविवार को, इनका शरीर छूटना निश्चित हुआ है। ये आशंका उन्होंने पू॰मनोहरदास बाबा व पू॰ऊषाजी को भी बतायी। सरलाजी भी चिन्तित सी हो उठीं। गोपीनाथ बाज़ार के इनके इस घर में परिजनों की गोष्ठी सी हो गई। पू॰बाबा, पू॰ऊषाजी व अन्य लोग रात्रि के प्रथम पहर में ही आ गए। पू. महाराजजी ने घोषणा की थी "संतोषजी न रविवार को जाएंगी, न दिसम्बर में जाएंगी।" फिर भी चिन्ता तो थी ही। सर्दी के दिन थे। कौतुक ये हुआ कि पू. संतोष बहिनजी तो कम्बल ओढ़ निश्चिन्त सी हो गईं मानों कुछ बात ही नहीं और पू.बाबा, पू.ऊषाजी व अन्य सभी पूरी रात जागरण करते रहे। अन्ततः हंसते हंसते सब अपने घर चले गए। पर पू. बहिनजी का रविवार दिसम्बर का ये भ्रम अभी कायम था। दृष्टिहीन सरलाजी के लिए उनकी चिन्ता भी स्वभाविक ही थी। मेरे जाने के बाद सरलाजी को कौन देखेगा, उन्हें कष्ट न हो इसी सोच में वे पू.बाबा से परामर्श करतीं, उन्हें सरलाजी को सुरक्षा प्रदान करने को कहतीं। इस अनुनय विनय में मर्यादित संत परिपाटी के विपरीत अव्यवहारिक पक्ष का भी उन्हें ध्यान न रहता। अन्ततः बाबा ने हंसते हुए कहा– "आप कहीं नहीं जा रही हो, अगर कुछ ऐसी बैसी अनहोनी हो भी गई तो सरलाजी की ओर से आप निश्चिन्त रहिए। ठाकुरजी उनकी व्यवस्था सुचारु रूप से कहीं कर ही देंगे।"

अगले रविवार की संध्या को भी फिर सभी एकत्रित हो गए और उसी प्रसंग की फिर पुनरावृत्ति हो गई। सभी पूरी रात जागरण

करते रहे और ये कौतुकी निश्चिन्त सी सो गईं। पर वस्तुतः ये इनका भ्रम नहीं था। अगले रविवार को दोपहर ये बैठी थीं कि तन्द्रा की सी अवस्था में इन्होंने देखा (वैसे, दिन में इन्हें सोते कभी किसी ने नहीं देखा) – एक संत कह रहे थे – "तुम्हारा समय निकट आ गया है, ले ठाकुर चरणामृत। इसे पी जा, तेरा मृत्यु योग टल जाएगा।" ये उस जल को पी गईं, तभी इनकी तन्द्रा भंग हो गई। इन्होंने देखा हथेली पर अभी भी जल की कुछ बूंदें थीं। ये उन्हें भी झट चाट गईं। किसी संत कृपा से इतनी बड़ी 'होनी' सहज ही कैसे टल गई। ये रहस्य भरा कौतुक वस्तुतः समझ से परे ही था, पर पू.बहिनजी स्वस्थ सबके बीच उपस्थित थीं, सो सबके आनंद का पारावार न था।

परदुःखकातरता–

पू.संतोष बहिनजी में श्रीमद्भागवत में वर्णित रन्तिदेवजी की ही तरह परदुःखकातरता देखने में आई। अपने बड़े से बड़े दुःख को शान्तभाव से चुपचाप सह लेती थीं, पर दूसरे का राई जैसा दुःख इन्हें पहाड़ सा लगता। ये दूसरे को दुःख में देख इतनी व्याकुल हो जातीं, मानों दुःखों का पहाड़ उन्हीं पर टूट पड़ा हो।

एकबार ठाकुर घनश्याम जी को कालरा हो गया। उन दिनों महाराज जी अपने परिकर के साथ गोपाल मन्दिर में रहते थे। ठाकुर घनश्याम जी भी वहीं थे। उनकी अस्वस्थता इतनी गम्भीर हो गई कि बचना असंभव सा लगने लगा। पूज्या संतोषजी ने सुना, भागती हुई गोपाल मन्दिर आईं। दवाखाने ले जाने के लिए तांगा आ चुका था। ममतामयी संतोषजी ने अकेले ही गोद में उठाकर ठाकुर घनश्यामजी को तांगे में बिठा दिया। सहज अवस्था में वे उन्हें उठा नहीं सकती थीं। बहुत ही दुखी होती हुई भागती हुई दवाखाने पहुंचीं। भगवान से

रो-रोकर प्रार्थना करने लगीं " हे प्रभो, मेरे घनश्याम को कुछ नहीं होना चाहिए।" भगवत् कृपा से ठाकुर घनश्याम बच गए।

ऐसे ही एक बार सन् १९६४ में श्री रामदासजी सिन्धी को, जो महाराजजी की सेवा में रहते थे पागल कुत्ते ने काट लिया था। साल भर बाद उन्हें उसका जहर चढ़ गया और वे मरणासन्न हो गए। दवाखाने में भरती किया गया, परन्तु स्थिति गंभीर और चिंताजनक होती गई। उनका कष्ट देखकर पू. सन्तोष बहिनजी बहुत व्याकुल हो उठीं, दुखी होकर रोने लगीं। स्वप्न में श्रीकृष्ण ने आकर कहा–"किसलिए रोती हो। इनसे कुछ अपराध बन गया था, इसलिए इनका अगला जन्म कुत्ते का ही होना था। परन्तु इन्होंने बहुत भजन किया है और संत सेवा की है, इससे इन तीन दिनों में ही इनका कर्म-भोग पूरा हो गया है।" तब कहीं जाकर पू.संतोष बहिनजी का समाधान हुआ। इनका हृदय अत्यधिक कोमल था। ऐसे ही संत हृदय के लिए कहा है-

"वज्रादपि कठोरानि मृदूनि कुसुमादपि।"

इनका मन प्राणीमात्र के दुःख से विगलित हो जाता। एक बार पू. मनोहरदास बाबा की कुटिया के पास एक कुत्ता मरणासन्न पड़ा था। ये जब वहाँ से निकलीं तो उसका कष्ट देख वहीं सड़क पर ही समीप ही बैठ गईं। देखा कुत्ता बहुत ही बिलबिला रहा है। कातर हो कुत्ते की सदगति हेतु, उन्होंने उच्च स्वर से महामंत्र का जप करना आरंभ कर दिया। और कुछ ही क्षणों में मन प्राण से तन्मय हो गईं। भाग्यशाली वह कुत्ता......, ब्रज में प्रयाण और वह भी समक्ष ही बैठे एक संत के मुख से नाम सुनते सुनते प्राण त्यागने का सुदुर्लभ अवसर। एक घन्टे बाद कुत्ते का शरीर छूट गया और ये वापस घर लौट गईं।

इसी प्रकार एक बार इन्हें जी जान से एक गधे की सेवा करते देखा गया। गधे की टांग पर घाव था। ये रोज उसकी मरहम पट्टी भी करतीं पर उसकी स्थिति बिगड़ती गई। अन्ततः जब वह भूमि से उठ

ही नहीं सका तो उसके उद्धार के लिए ये इतनी व्यग्र हो उठीं कि पू. मनोहरदास बाबा से कहा– "इसकी आंखों में एकटक देखते हुए आप महामंत्र का जप करते रहें" बाबा तन्मयता से जप करते रहे और पू. सन्तोष बहिनजी गधे के मुंह में पानी डालती रहीं। अपने कर्मों से तो जीव का पता नहीं कब उद्धार हो पर ऐसे संत कृपा का सुयोग अगर हो जाए तो जन्म जन्मांतरों के कष्टों का निवारण हो जाता है। इस कृपा पात्र गधे की मुक्ति में किसी को संशय ही कैसे हो सकता है।

ऐसे ही जेहलम में हुए एक बैल का प्रसंग पृ. १७ पर वर्णित किया जा चुका है। वस्तुतः ये सब प्रसंग चर्चावश आ गए वरना रोज ही ऐसे कितने ही प्रसंग घटित हुए होंगे, जो प्रकाश में नहीं आ पाए। महापुरुष प्रकट ही कब होने देते हैं। दिखावे के लिए तो वे करते नहीं, ये तो उनका स्वभाव होता है और स्वभाव कुछ जीवों तक ही सीमित नहीं होता।

एक बार घर में चूहों का प्रकोप बहुत ही बढ़ गया। पू. सन्तोष बहिनजी ने कुछ दिन तो उनका ऊधम सह लिया, पर जब चूहों ने ठाकुरजी के सिंहासन चौकी तक दौड़ लगानी शुरू कर दी तो ये बहुत ही व्यथित हो गईं। इन्हें ठाकुरजी को भोग लगाना ही मुश्किल हो जाता। अतः चूहेदानी मंगवा चूहे पकड़ कर बाहर छोड़ने की योजना बनाई। चूहे को पिंजरे में बंद देख ये दुखी हो गईं, किसी तरह उसे बाहर छोड़ने को निकलीं। सुबह सात बज रहे थे। ये पिंजरा लिए पूरे मोहल्ले में घूम आईं, केशीघाट तक हो आईं, पर उन्हें ऐसी जगह ही नहीं मिली जहां सुरक्षित रूप से चूहे को छोड़ सकें। इस तरह घूमते घूमते दिन के बारह बज गए। अन्ततः पिंजरा लौटा कर वापस ले आईं और चूहे को वापस घर में ही छोड़ दिया। अहा, करुणा के असाधारण स्वरूप की जीवन्त प्रतिमूर्ति हमारी सन्तोष बहिनजी। अस्तु।

बनारसी भाई ने गोपीनाथ बाजार के इस मकान में रहने के वक्त बहुत ही श्रद्धा से पू. बहिनजी की सेवा की। उनकी पत्नी की भी पू॰ बहिनजी के प्रति बहुत ही निष्ठा थी। जो संतोष बहिनजी कभी किसी से कोई सेवा नहीं लेती थीं, वे सहज ही उन्हें काम करने को कह देतीं, ये दम्पति उनके बहुत अपनों में से ही थे। सन् १९६५ में पारिवारिक कारणों से जमीन जायदाद का बटवारा हो रहा था। ये मकान बनारसी भाई को बेचना पड़ा। बनारसी भाई की असुविधा सोचते ही अनासक्त पू॰ बहिनजी ने सामान बांधा और पत्थरपुरा भजनाश्रम के पास ही एक घर में सरला जी को लेकर आ गईं। स्नेही बनारसी भाई भी उनके साथ उसी घर में आ गए। उन दिनों गर्मियों में पू॰ ऊषाजी बड़ी कुंज में रहती थीं। अम्बाले से भी कई बहिनें छुट्टियों में वृन्दावन आ जाती थीं। लीला चिन्तन हित ये सब घंटों यमुना पुलिन पर विराजित रहती। पूज्या श्रीऊषा जी, श्रीसुशीला जी, श्रीधर्मजी एवं श्रीभारती बहनजी के साथ श्रीसरला जी का हाथ थामे बैठी पू॰ संतोष बहिनजी .... अहा गोपिकाओं की सी चर्चारत ये सखी मण्डली।

उन्हीं दिनों एकबार किसी संत ने कह दिया कि रात को कोई घर आए तो वह भगवान ही होते हैं। संयोग की बात उसी रात बारह बजे एक चोर इनके घर आया। ठाकुर की प्रतीक्षारत, ये तो रात्रि भर जागा ही करती थीं। अर्धरात्रि को द्वार पर खटका सुनते ही ये चौंकीं, तथा अपने उसी चिन्तन में झट जाकर द्वार खोल दिया। वह चोर बाहर ही खड़ा था। इन्होंने उसे प्रणाम किया और कहा –"आइए, आप अन्दर आइए। बाहर क्यों खड़े हैं?" पू. संतोषजी प्रभु स्वागत में भाव विभोर हो उठी थीं। उस चोर ने इनके चेहरे की ओर देखा व भौंचक्का सा होकर एकदम भागा। पू. बहिनजी भी उसके पीछे भागीं। कहने लगीं "अरे आप जा क्यों जा रहे हो, आओ न" परन्तु वह भागता ही जा रहा था और पू. बहिनजी उसके पीछे-पीछे भाग रही थीं। निधिवन की

दीवार तक जाकर पू. बहिनजी वापस लौट आईं पर उनके क्षोभ की सीमा न थी। भगवान आए पर घर के भीतर आए बिना लौट गए। दूसरे दिन पू. बहिनजी ने जब ये बात पू. मनोहरदास बाबा को बताई तो उन्होंने कहा– 'वह तो चोर था। रात को दरवाजा मत खोल दिया करो, न ही किसी के पीछे अर्धरात्रि को ऐसे भागना चाहिये।'

ठाकुर संलग्नता –

बसंत के दिनों की बात है। पू.ऊषाजी चौकस राम की धर्मशाला में, जो आजकल हरमिलाप भवन के नाम से जाना जाता है, रह रही थीं। संध्या का समय था। पू.संतोष बहिनजी, सरलाजी को लिए ठाकुरजी के दर्शन करने पू॰ ऊषाजी के यहाँ आईं। आज उन पर बसंत का वातावरण पूर्णरूप से छाया हुआ था। भावभीनी दशा में वे आकर ठाकुरजी के समक्ष बैठ गईं। थोड़ा समय ऐसे ही नीरवता में बीत गया। पू. ऊषाजी उनके भावों को पहचान गई थीं। उनका हाथ थामे उन्हें साथ वाले कमरे में ले गईं, लंहगा पहनाया, चटकीली ओढ़नी ओढ़ाई, शीश पर घूंघट सा कर आधा मस्तक छुपा सा दिया। पू. सन्तोष बहिनजी ने बिल्कुल भी विरोध नहीं किया। इस गोपी स्वरूप में पू॰ बहिनजी बहुत सुन्दर लग रही थीं। एक गोपी ने ही दूसरी गोपी का भावमय श्रृंगार किया था। पू. बहिनजी दिव्य आकर्षक रूप में एकदम ब्रज वधू सी सिमटी-सिमटी सी आकर बैठ गईं। उनकी अर्धचेतना की सी वह दशा ..... संयोग की बात, उस वक्त दर्शन बहिन भी वहीं पर उपस्थित थीं और मुग्ध सी एकटक पू॰ बहिनजी का वह गोपीरूप निहार रही थीं। पू. ऊषाजी के इंगित करने पर दर्शन बहिन ने गाना आरंभ किया –

सेजन पै भूली चंदन हार, पलंग पै भूली कंगनवा।
ए री रंगीली बन्नो टीका तो रखना संभाल के।

बिंदिया पै वारौं हीरे लाल, लट तेरी भीजी इतर में ....
ए री रंगीली बन्नो, चूड़ा तो रखना संभाल के।
कंगन पै वारौं हीरे लाल, लट तेरी भीजी इतर में ....
ए री हरियाली बन्नो, पायल तो रखना संभाल के।
घुंघरू पै वारौं हीरे लाल, लट तेरी भीजी इतर में ....

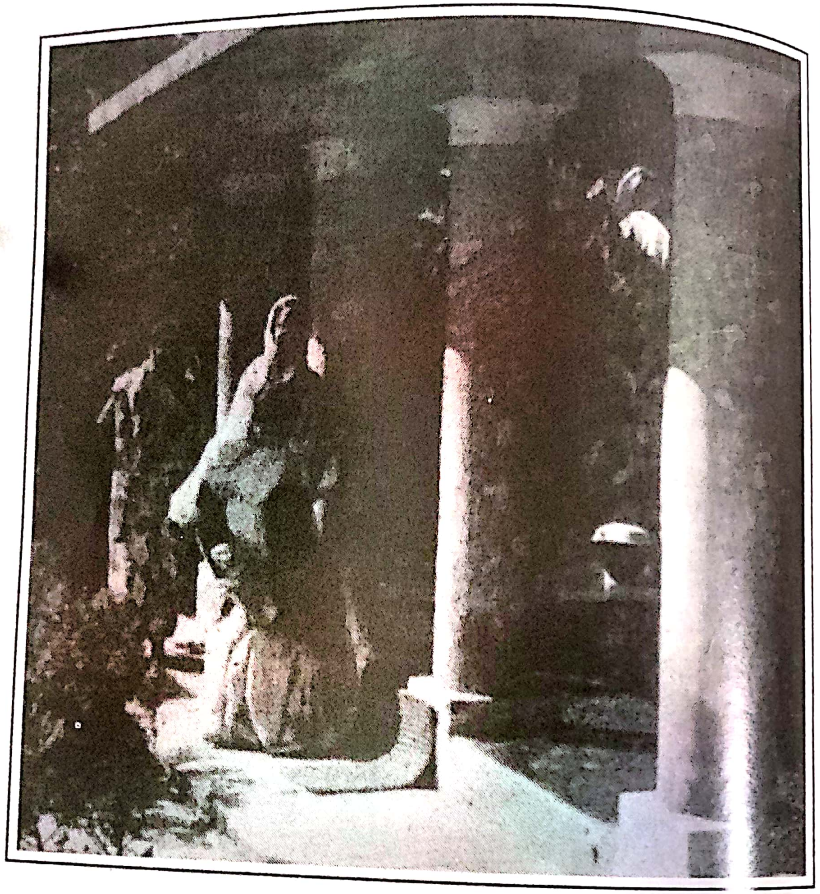
पूज्य बहिनजी के उस श्रृंगार तथा भावों के अनुरूप उस समय गाये गये इस लोक गीत से उस समय कक्ष में मानों दिव्य लीला धाम ही प्रकट हो गया था। पूरे पदगान के समय पू. संतोष बहिनजी सिमटी-सिमटी सी शीश झुकाए ब्रज वधू की तरह ही बैठी रहीं और बाह्य जगत से बेसुधि की ये दशा कई घंटे बनी रही। अस्तु।

सन् १९६६-६७ में पू. संतोष बहिनजी पत्थरपुरा से सिंधी कालौनी में गंगारामजी के घर आ गईं। श्रीबांके जी के जाने के बाद चमनलालजी ने ये घर इन्हें दिलवा दिया था। यहां एक कमरे में गंगारामजी रहते थे और साथ वाले कमरे में पू॰ संतोष बहिनजी व सरला बहिनजी। पू॰ ऊषाजी भी सिंधी कालौनी में ही रह रही थीं। दीवाली के बाद अन्नकूट के दिन श्रीऊषा जी सदा की भांति पू.संतोष बहिन जी एवं उनके सेव्य श्रीशालिग्रामजी को प्रणाम करने आईं। पू. संतोष बहिनजी पूरा कार्तिक मास नियम से रहती थी। तुलसी जी की पूजा अर्चन करतीं, शालिग्राम जी को तुलसा जी के गमले में पधरा परिक्रमा करतीं। पू.ऊषाजी जब वहां पहुंची तो पू.संतोष बहिन जी शालिग्राम जी की परिक्रमा कर रही थीं। ऊषा जी भी पू.बहिन जी के पीछे-पीछे परिक्रमा करने लगीं। तभी उन्हें लगा श्रीश्री ठाकुरजी भी साथ-साथ परिक्रमा में डोल रहे हैं, ये भावाभिभूत हो गईं पर मुख से कुछ कहा नहीं। सोचने लगीं अगर पू.संतोष बहिन जी ठाकुर जी की उपस्थिति

बताएं तो मेरी स्फुरणा का अनुमोदन हो जाए। परिक्रमा पूरी कर दोनों अभी बैठी ही थीं कि पू.बहिनजी हर्षित स्वर में कह उठीं- ''ऊषाजी आज तो ऐसा लगा जैसे ठाकुर स्वयं भी अपने ही श्रीशालिग्राम स्वरूप की परिक्रमा कर रहे थे। ऊषा जी उनके मुख से ये सुन गद्‌गद हो गईं।

इसी घर में एक बार होली के दिनों में पदगान के समय पू. मनोहरदास बाबा, पू॰संतोष बहिनजी, श्रीसरलाजी एवं श्रीऊषाजी सभी को ठाकुर जी की साक्षात् उपस्थिति की प्रतीति हुई। लेकिन संकोचवश कोई अपने भाव प्रकट नहीं कर रहा था। अन्ततः पू॰संतोष बहिनजी ने ही अपनी अनुभूति को प्रकट किया, उसके बाद तो पू॰बाबा व पू॰ऊषा जी ने भी उस तथ्य को स्वीकार किया। ऐसी सरस अनुभूतियों को रसिक संत बहुत संकोच से प्रकट करते हैं।

थोड़े समय बाद १९६९ में सिंधी कालोनी में ही रह रही प्रेम बहन के अति आग्रह से पू.संतोष जी उनके घर में आकर रहने लगीं। पू.बहिनजी ने इस घर में लगभग १२ वर्ष बिताए और ये अन्तराल और भी रस प्रदायी हुआ। बिहारीजी तो पास थे ही, पू॰ऊषाजी भी निकट ही थीं सो उनके ठाकुर जी के दर्शन और सखा जी द्वारा प्रदत्त लीलाओं के श्रवण का सुअवसर सहज ही मिल जाता। पू.महाराजश्री, ठाकुर घनश्यामजी और पू.मनोहरदास बाबा का भी अक्सर आना हो जाता। श्रीऊषा बहनजी व अन्य बहनें भी आ जातीं, इस तरह ये संगोष्ठी सरस विशाल रूप धारण कर लेती। उत्साह उमंग भरा पदगान, श्रीकृष्ण चर्चा, हास परिहास से वातावरण झंकृत हो उठता। पू. संतोष बहिन जी इतनी फुर्तीली थीं कि बात की बात में सभी काम पूरी दक्षता से कुछ ही समय में पूरे कर लेतीं। विनोद प्रिय महाराजश्री ने उन दिनों इनका नाम ही 'स्फूर्ति' रख दिया था।



पूज्य ऊषा जी को आंलिगनबद्ध किए, श्री ललितजी व
सरलाजी के साथ पूज्य संतोष बहिन जी

पू॰ श्रीशीलजी-देवेन्द्रजी-

बाँके बिहारी कालोनी के इस घर के पास ही चंडीगढ़ के वाइस चान्सलर देवेन्द्र जी अपनी पत्नी शीला जी के साथ रहते थे। आप दोनों एक महान् सन्त श्री अनूपयति जी महाराज के शिष्य थे। पू.संतोष बहिन जी के प्रति इन दम्पति की अद्‌भुत निष्ठा थी। घर में काम करने के लिए खूब नौकर चाकर थे पर पू॰ बहिन जी की सेवार्थ श्रीदेवेन्द्रजी खुद पानी भरने जाते। पू॰ शील जी को भी अपने से उम्र में काफी छोटी होने पर संतोष जी पर बहुत ही स्नेह मिश्रित श्रद्धा थी। एक बार पू. संतोष बहन जी किसी के साथ पू॰ शील जी के ठाकुर के दर्शन करने गईं। शील जी की ठाकुर-सेवा बहुत ही लाड़भरी होती थी। चाय का भोग लग रहा था। सो पर्दा देख पूज्य बहिन जी बाहर ही बैठ गईं। पर जैसे ही शील जी को उनकी उपस्थिति का आभास हुआ, श्रद्धा से नतमस्तक होकर इन्हें ठाकुर के समक्ष ले गईं और बोलीं- "आपके सामने होने से ठाकुर को चाय और मीठी लगेगी।" और फिर शुरू हो गया उनका अन्तरंग सखियों का सा हास-परिहास। जब भी मिलतीं परस्पर एक दूसरे को आदर देने की अनूठी झलक देखने को मिलती थी।

पू.संतोष बहिन जी तो पूरे मोहल्ले की श्रद्धेया थीं। सेवापरायण पू.बहिनजी सेवा के अवसर ढूंढती रहती थीं। सभी परिचितों के राशन कार्ड इकट्‌ठे कर, सबके झोले अपने कंधे पर लटकाये वे उत्फुल्लता से ये सेवा किया करती थीं। एक दिन ठाकुरदासजी के घर के सामने खड़ी किसी का द्वार खटखटा झोला और राशन कार्ड मांग रही थीं। पू. बऊजी (श्रीऊषाजी की माताजी) ने देखा तो समझाया- "ये सब असहाय दीन थोड़े ही हैं। अपना राशन स्वयं ला सकते हैं।" पू.संतोष

बहिनजी व्यथित सी होकर बोलीं- ''मुझे इस सेवा से वंचित क्यों कर रही हो आप। सेवा ही न कर पाऊँ तो इस जीवन का लाभ ही क्या है।'' ये सुन, इनका अद्वितीय सेवा भाव देख, पू.बऊजी चुप सी हो गईं।

पू॰ सेवादासजी–

उन्हीं दिनों पू.सेवादासजी (अन्कलजी) संकीर्तन भवन में साधनारत थे। उन्होंने साधनाकाल में केवल कुट्टू के आटे का आहार करने का नियम भी लिया था। पू.संतोष बहिन जी रोज उन्हें घी से आटा गूंध रोटियां बनाकर दे जातीं। पू.सेवादास जी को घी से सराबोर रोटी पचाना और भी मुश्किल था। पर पू.संतोष जी को कुछ कह पाना सबके लिए असंभव था। बहुत असुविधाजनक परिस्थिति हो जाती पर निश्चय ही पू.बहिनजी का सेवा भाव अतुलनीय था। वे कहा करती थीं- "संतों का दामाद की तरह आतिथ्य करना चाहिए।"

करुणासिन्धु बाबा–

सन् १९७१ की बात है पुष्पा बहन काफी अस्वस्थ थीं। डॉक्टरों ने यक्ष्मा रोग की संभावना की थी। वह उस समय अनन्त भवन में रह रही थीं। पू.ऊषाजी ने उसकी देखरेख के लिए निर्मला शर्मा को कांधले से बुला लिया। गर्मी की छुट्टियां थीं सो उनका आना कुछ मुश्किल भी नहीं था। पर संयोग ऐसा हुआ कि निर्मला शर्मा वृन्दावन आ तो गई पर यहां आते ही खुद बीमार पड़ गई। पूरे शरीर पर छाले उभर आये। चेहरा सूज गया। आंखें बंद हो गई। असहनीय कष्ट था। जलन के मारे एक क्षण को भी सो नहीं पाती थीं। सभी चिन्तित हो गये। पू.संतोष बहिन जी तो उनके कष्ट को देख बहुत ही व्याकुल हो गई। वे बेचैन सी कभी बाहर जायें, कभी अंदर आयें, मानों कष्ट वह नहीं, ये भोग रही थीं। अहा, दूसरे के दुःख में इतनी कातरता... अन्ततः

बाहर गईं और रज लेकर आईं। संभवतः यमुना पुलिन की ही रज थी। इस रज से उन्होंने निर्मला शर्मा के छाले पड़े चेहरे पर लेप सा कर दिया। इससे निर्मला शर्मा को थोड़ी राहत मिली। इतने दिन की उनींदी वह उस रात चैन से सो सकी। अगले दिन पूज्य संतोष बहिनजी उसे करुणासिन्धु बाबा के पास ले आईं। करुणासिन्धु बाबा से पू.बहिनजी का परिचय ही नहीं, आत्मीयभरा संबंध था। आश्चर्य होता इनकी पैनी खोज भरी दृष्टि पर। गोपनीय से गोपनीय रूप में ब्रजवास कर रहे संत भी इनकी दृष्टि पथ में होते। करुणासिन्धु बाबा उन्हीं में से थे।

करुणासिन्धु बाबा पूर्वाश्रम में सिविल सर्जन थे। अच्छी खासी प्रतिष्ठित नौकरी थी। रामबाग वृन्दावन में, शंकर शरण बाबा के यहां उनका काफी आना-जाना था। उनके त्याग, वैराग्य और भक्तिमय जीवन से करुणासिन्धु बाबा काफी प्रभावित थे। अस्पताल में कार्यरत करुणासिन्धु बाबा किसी रोगी की दशा देख व्याकुलता में क्षणभंगुर जीवन की नश्वरता का अहसास कर सब कुछ छोड़ वृन्दावन आ गये। बाबा शंकरशरण के आश्रय में पूर्णरूपेण वैराग्य और तितिक्षामय जीवन बिताते हुए नाम साधना में डूब गये। तराश वाले मंदिर के पास ही रहने लगे। केवल भगवान पर आश्रित हुए बाबा किसी की कोई सेवा स्वीकार नहीं करते थे।

पू॰ बहिनजी निर्मला शर्मा को लिये बड़े अपनत्व भरे अधिकार से निःसंकोच करुणासिन्धु बाबा के पास चली गईं। उन्होंने निर्मला शर्मा के लिए दवाई बतला दी। उसके बाद कुछ समय ठाकुर चर्चा होती रही। तभी पू.संतोष बहिन को लगा बाबा की भी तबियत ठीक नहीं, उन्हें सर्दी जुकाम के साथ हल्का बुखार था। पर पू.बहिनजी तो दूसरे के जरा से दुःख से ही विचलित हो उठतीं। उनसे साधिकार शब्दों में बोली– ''आप थोड़ी सी तुलसी-अदरक की चाय ले लीजिये

ना।'' चाय का नाम सुनते ही विरक्त बाबा रुष्ट हो गये। क्रोधित स्वर में बोलें-''जाओ, यहां से सब चले जाओ।'' ये भी हठीली थीं। फिर भी जिद्द करती हुई बोलीं– ''आप अपने लिए नहीं हमारे लिये ले लो। हमें तो आपकी जरूरत है।'' ये परस्पर की स्नेहिल रार .....। और जब पू.बहिनजी बाबा की सहायतार्थ चुपचाप कुछ रखने लगीं तब तो बाबा का क्रोध चरम सीमा तक पहुंच गया। स्वयं वैराग्य की प्रतिमूर्ति पू. संतोष बहिनजी बाबा के उत्कट वैराग्य से भलीभांति परिचित थीं। तब भी वे करुणावश ही करुणासिंधु बाबा की सहायतार्थ कुछ करना चाह रही थीं। संग आये लोगों को इनकी सरस रार में उत्कट वैराग्य की झलक देखने को मिली। वस्तुतः अपनी असंगता और निरपेक्षता को सुरक्षित करने के लिए और कभी भक्तों की श्रद्धा को पुष्ट करने के लिए, कभी परीक्षा करने के लिए संतों का बड़ा अलौकिक आचरण होता है। अस्तु।

पू.ऊषाजी व अन्य बहिनों को श्रीधाम की क्रीड़ास्थलियों से परिचित कराने का श्रेय पू॰ संतोष बहिनजी को ही है। और वह विवरण अक्सर ही पू.ऊषाजी वृन्दावन से बाहर रह रही साधक बहनों को भी लिख भेजती थीं। इस तरह कितने ही भक्त हृदय उस पावन स्थली की स्निग्धता से रंजित हो जाते। १३ अक्टूबर १९७१ में पू॰ ऊषाजी ने सुदेश बहन को पत्र में लिखा- ''आज शाम ५ बजे पू. बहिनजी के साथ हम सभी घूमने निकल गए, स्वामी अखंडानंदजी के नव वृन्दावन आश्रम में मोतीझील के पास। यों तो आश्रम में पहिले भी एकाध बार आई हूं, पर इस बार जो दर्शन हुए उससे मन पुलकित हो गया। औढरदानी भगवान शंकर (लिंगरूप में नहीं- श्रीविग्रह रूप में) और उनकी प्राणप्रिया जगज्जननी पार्वतीजी उनके वामांग में सुशोभित, अपनी ममतामयी अवलोकन धारा से सबकी सींचती सी बहुत ही सुख बरसा रही थीं...... बाद में हमें उसी आश्रम के उद्यान में बहिनजी लेकर

गई। वहां पूज्यपाद श्रीकोकिल सांईजी की भजनस्थली देखी। कदम्ब वृक्षों की सघन छाया में वह भजन करते थे। वह वातावरण, वह प्राकृतिक सौन्दर्य, श्रीवनीय भूमि की सुन्दर छाया, रसिकजनों की भजनस्थली- कितना सुख, कितना आनंद।''

(प्रेमसुधा धारा पृ॰ २१८)

ऐसे ही एक बार जब पू.बहिनजी सब बहिनों को साथ लेकर कालीदह पर प्रबोधानन्दजी की समाधि दर्शन कराने ले गई थीं, उसका वर्णन पू.ऊषाजी ने अपने पत्र में किया है। उनसे सुने दोहे, चर्चाएं सभी अन्य बहनों को पत्रों में लिख पू.संतोष बहिनजी का मानों उन्हें सान्निध्य ही प्राप्त करा देती थीं। पू.बहिनजी और श्रीऊषाजी अन्तरंग सखिस्वरूपा थीं। सभी उत्सवों पर पूज्या बहिनजी ठाकुरजी के दर्शन अवश्य करने आतीं। सन् १९७३ में पू.बहिनजी प्रेमबहन वाले घर में बाँके बिहारी कालोनी में ही रह रही थीं। रामनवमी के पावन दिवस पर ये ऊषाजी के ठाकुर जी को प्रणाम करने आईं। पाठ चल ही रहा था। रामचरित मानस में रामजन्मोत्सव प्रसंग पढ़ा जा रहा था। जन्मोत्सव की धूम में पू. बहिनजी खो गईं। आंखें मूँदे, हाथ जोड़े, चेहरे पर अलौकिक आह्लाद, उनकी तन्मयता की असाधारण दशा झलका रहा था। उन्हें इस भावदशा में देख, सभी श्रद्धानत थे। पू. बहिनजी ने आंखें खोलीं, ऊषाजी की ओर झुक, गद्‌गद वाणी में हनुमानजी की उपस्थिति की बात बताई। इस जन्मोत्सव झूम में हनुमानजी करताल बजाते नृत्य करते दिखाई दिए। उनकी करताल की झंकृति और मनहर नृत्य-मुद्राओं से विभोर पू॰ बहिनजी मग्न बैठी रहीं। हम सब बहनों के लिए पू. बहिनजी की उपस्थिति से ही उत्सव की सार्थकता हो चुकी थी; उस पर भक्तराज हनुमानजी का प्राकट्य ....। रामनवमी का आज का उत्सवानंद सभी के मन को अलौकिक रस प्रदायी रहा। अस्तु।

कृपासिन्धु बाबा–

चट्टगांव, बंगाल से १७ वर्ष की युवावस्था में गृह त्यागकर कृपासिन्धु बाबा पुरी होते हुए वृन्दावन आ गए थे। ये पंडित बाबा के बहुत ही आत्मीयजनों में से थे। गुरु बुद्धि से पंडित बाबा की सेवा ही कृपासिन्धु बाबा के भजन का मुख्य अंग था और उसी सेवा के फलस्वरूप ही उन्हें सब कुछ प्राप्त हो गया था। नामजप सहित अष्टयाम लीला चिन्तन में दिनरात मग्न बाबा बाद में रमनरेती के 'भागवत निवास' में रह रहे थे। उनकी भाव सिद्ध स्थिति के कारण पू.संतोष बहिनजी की उनके प्रति अत्यधिक श्रद्धा थी। उस समय कृपासिन्धु बाबा ब्रज के संतशिरोमणि ही थे। इसीलिए सन् १९७२ की गर्मियों की छुट्टियों में जब ऊषाजी के परिकर की बहिनें वृन्दावन आईं तो पू.संतोष बहिनजी उन्हें कृपासिंधु बाबा के दर्शन कराने ले गईं। ''ऐसो को उदार जग मांहि'' पू.बहिनजी खुद तो उच्चकोटि की संत थीं ही, न जाने कितने लोगों को सिद्ध संतों के दर्शन करा उन्हें इस तरह पावन किया।

संध्या समय बाबा जिज्ञासुओं और श्रद्धालुओं से मिलते थे। सो श्रीऊषाजी, श्रीसुशीलाजी, श्रीधर्मजी व अन्य कई बहनों को साथ ले पू. बहिनजी रमणरेती की ओर चल पड़ीं। 'भागवत निवास' का एकांत वातावरण बहुत ही हृदय स्पर्शी था। बाबा बाहर ही वृक्ष के नीचे विराजमान थे। बड़ी ही उमंग से पू.संतोष बहनजी ने प्रणाम करते हुए कहा– ''ये सब मेरी बहनें हैं। आपके दर्शन करने आई हैं।'' जितना जोर देकर 'मेरी' शब्द कहा गया था उससे उनकी इन सब बहिनों के प्रति ममता झलक रही थी। इन का अपनत्व मिलने से अन्य संतों की कृपा वृष्टि भी सहज ही हो जाना स्वभाविक ही था। कृपासिंधु बाबा का भी इन सभी पर खूब लाड़ उमड़ा। सबसे मिलकर वे बहुत ही खुश

हुए। पू.ऊषाजी के प्रति तो उनका विशेष स्नेह रहा। ऊषाजी का गौड़ीय साहित्य के प्रति श्रद्धाभरा झुकाव ही शायद मुख्य कारण था। पू॰ऊषाजी के गृहत्याग और स्थायी वृन्दावन वास की बात सुन बाबा हर्षविभोर हो उठे। शेष बहनों को भी जबरदस्ती वृन्दावन वास करा देने की बात कह, बाबा ने साधन संबंधी बातें शुरू कर दीं।

बाबा ने कहा– ''उनको प्राप्त करने का एकमात्र उपाय प्रेम है; वह चेष्टा साध्य नहीं, उन्हीं की दया से, कृपा से मिलता है। उनके चरणों का भरोसा, विश्वास पूर्ण शरणागति ही सार है।'' और भी कहा– ''सभी प्रकार के ऐश्वर्य, सभी प्रकार की सामर्थ्य हमें उनसे दूर करते हैं। वे वस्तुतः दीन बन्धु ही हैं। दीन होने पर ही उनकी कृपा होती है।''

फिर उन वृन्दावन आई हुई बहनों की ओर देखते हुए बोले– ''क्यों दो टूक रोटी के लिए धाम को छोड़ बाहर नौकरी कर रही हो। सब छोड़छाड़ कर आ जाओ'' बाबा का ही शुभाषीश था शायद कि उनमें से अधिकतर बहनें शीघ्र ही सब छोड़ वृन्दावन वास के लिए आ गईं। अस्तु, बाबा को प्रणाम कर पू.बहिनजी के संग सभी लोग वापस आ गए।

पूज्य संतोष बहिनजी कभी-कभी भावलोक की तन्मयता में डूब पू॰ऊषाजी को ठाकुरजी का विशेष शृंगार करने का आग्रह भी कर देती थीं। जून १९७४ जल विहार के आसपास की बात है। गर्मी की छुट्टियों की वजह से अम्बाले से भी कई बहनें आई हुई थीं। कुछ दिन पहले ही पू.ऊषाजी ने सखा जी द्वारा प्रदत्त भीलनी वाली लीला 'वन स्वामिनी' पू.संतोष बहिनजी को सुनाई थी। ये लीला कौतुक पू.संतोष बहिनजी को बहुत ही सुन्दर लगा था। विशेषतः किशोरीजी के वन-स्वामिनी के रूप में शृंगार वर्णन से तो पू.बहिनजी रोमांचित हो उठी थीं। लीला की कुछ पंक्तियाँ थीं– 'आज साड़ी तनिक ऊंची थी,

अतः वे पुष्प पायल स्पष्ट ही दीख रही थीं। श्री चरणों की पीतारुण छवि की बलैया लेती सी श्वेतारुण छटा। उनके एक कर सरोज में पुष्प धनु था और दूसरे कर कञ्ज में कुसुम शर। एक विशाल वृक्ष के नीचे वे तनिक टेढ़ी खड़ी थीं। उनके दक्षिण बाहु पर सूर्य रश्मि झिलमिला रही थी। उस झिलमिलाहट में उन नील पीत कुसुमों की शोभा अद्भुत थी।' ये पंक्तियां उन्होंने ऊषाजी के मुख से न जाने कितनी बार सुनी थीं पर शायद उनकी तृप्ति ही नहीं हो पा रही थी। उस लीला में ही अटकी अपनी चित्त वृत्ति के वशीभूत एक दिन उन्होंने ऊषा जी को किशोरीजी का भीलनी वेश में शृंगार करने को कहा। पू.ऊषाजी ने अगले दिन ही अपनी सेव्या किशोरी को उस वनश्री सुशोभित भीलनी वेश में सुसज्जित कर दिया। सुश्री विमला कपूर से छोटा सा फूलों से सुसज्जित धनुष बनवा किशोरी जी को धारण करा दिया। फूलों का ही पूरा शृंगार धारण करवाया। छोटे-छोटे पुष्पों से बनी पायल को जब किशोरी जी की ऊँची सी पहनी साड़ी के नीचे झांकते चरण श्री में धारण कराया तो उस अनुपम छवि ने मानों सभी की सुधि हर ली। उस असीम सौंदर्य छवि के साथ-साथ ही उस दिन प्लास्टिक के रंग बिरंगे फूलों से बनाई छोटी सी वनस्थली से तो और भी आकर्षक झांकी प्रस्तुत हो गई। कुंज के एक ओर भीलनी वेश में हाथों में पुष्पधनु और वाम कर में पुष्प शर लिए किशोरी जी टेढ़ी खड़ी थीं और कुंज में दूसरी ओर श्यामल किशोर नीलाभा लुटाते खड़े थे। पू.संतोष बहिनजी को संदेश भेजा जा चुका था।

पू.बहिनजी कक्ष में प्रवेश करते ही भावमग्न हो गईं। इस दिव्य झांकी को अपलक निहारती वे उस रूप छटा पर बलिहारी जा रही थीं, ठीक उनके मनोभावों के अनुरूप प्रस्तुत इस झांकी से वे सुधबुध हारी कितनी ही देर वहां उन्मादित सी बैठी रहीं। दृश्य को मन में संजो लेने की वे तृषातुर अवलोकन! अन्ततः उन्होंने ऊषाजी से उस झांकी

की फोटो करवा लेने का आग्रह किया जिसकी किसी ने कल्पना भी नहीं की थी। संयोग से विजयभाई वहीं थे और उन्होंने झट युगल सरकार की इस झाँकी के कई चित्र लिए।

होली-उत्सव–

इस प्रकार ऊषाजी के प्रति अत्यधिक स्नेह के साथ साथ अन्य सभी बहनें भी पू.बहनजी के ममताभरे, अपनत्व भरे प्रेम की भाजन रहीं। उन्हीं दिनों एक बार जब आप प्रेमबहन के घर रह रही थीं और पू॰ऊषाजी अनन्त भवन में गैलरी के साथ वाले कमरे में रह रही थी, होली की उनकी अनोखी धूम देखने का अवसर मिला। आप अपनी भावभीनी लटक में ऊषाजी के यहां पहुंच गईं। संयोग की बात पू॰ऊषाजी घर पर नहीं थीं, वे सुशीला बहिनजी को ले पुष्पाजी के यहां गई हुई थीं। इधर उनके पीछे अम्बाले से आई हुई बहनें धूमधाम से होली के रसिया व पद गा रही थीं। पू.संतोष बहिनजी को आया देख पहले तो संकोचवश चुप सी हो गईं, पर उनका अपनत्व और उल्लास देख और भी झूम से भर उठीं। पू.संतोष बहन जी इन छोटी-छोटी बहनों की होली झूम देख किसी और ही साम्राज्य में पहुंच गईं। विमला शर्मा ढोलकी बजाती हुई गा रही थी–

"ब्रज को दिन दूलह रंग भरयो"

पद सुनते ही संभवतः पू.बहिनजी ब्रज के श्यामल नित्य दूलहे को रंग में बोरने में निमग्न हो गई थीं। उनकी भावदशा देख विमला शर्मा ने उन्हें नई ठाकुरजी की प्रसादी साड़ी पहनाने का प्रयास किया, जिसे पू.बहिनजी ने बिना किसी विरोध के पहन लिया। हैन्डलूम की जामुनी बार्डर वाली इस बादामी सी साड़ी में पू.बहिनजी की अतुलनीय शोभा रही। सभी बहिनों के नृत्य करने के अनुरोध को भी सहज ही मान गईं। पू॰ऊषाजी की अनुपस्थिति में निस्संकोच नृत्य करती ये इतनी

भावमग्न हो गईं कि सभी दंग रह गए। पदगान और भी अधिक उल्लास भरे स्वरों में होने लगा और वह पद समाप्त होते ही किसी ने दूसरा झूमभरा पद शुरू कर दिया- ''रंग हो हो हो हो होरी।'' पू. बहिनजी की मस्ती देखने योग्य थी। सरोज बहन चुपचाप भागकर ऊषाजी को बुला लाई। पू.ऊषाजी व सुशीला जी उस दिव्य नृत्य के विषय में सुन झट आ गईं। गैलरी में ही खड़ी खिड़की से झाँकती रहीं। दो गोप बालाओं के सदृश इनके अवलोकन ने नृत्य प्रस्तुति को और भी मदिर कर दिया। भावनिमग्ना पू.बहिनजी का वह अलौकिक नृत्य देख पू.ऊषाजी को भी, खुद को संभालना बहुत ही मुश्किल लग रहा था। जैसे तैसे भाव संवरण कर उन्होंने कक्ष में प्रवेश किया। उन्हें तो पू.संतोष बहिनजी का दिव्य गोपी स्वरूप ही समक्ष झलक रहा था। श्रीऊषा जी के कक्ष में प्रवेश करते ही, नागरीदासजी का भावप्रद पद ''बाढ़ी चौंप दोऊ ओरी'' गाया जाने लगा। ये पद पू.संतोष बहिनजी को बहुत ही प्रिय था। आइए ज़रा पहले उस पद का ही आस्वादन करें वरना प्रसंग की अभिव्यक्ति प्रकट नहीं हो पाएगी। पद था-

बाढ़ी चौंप दुहुँ ओरी, आज खेलन के मिस होरी....॥
इत में छैल रसिक अलबेलो, कियो चहत बरजोरी।
उत सखियन चमकाय दई है, दै दै सैन किशोरी.....।
उमग काहू के न थोरी, बाढ़ी चौंप.....॥
रंग अनंग तरंग दोऊन के, तन मन भींज गयो री।
रीझ रहे कंपित तन दोऊ, हंसत अधिक मुख भोरी।
तकत सखिन सों चोरी, बाढ़ी चौंप.....॥
सहज प्रसन्न प्यारी मुख ऊपर जान परत अति भोरी।
मूठ गुलाल बचाय गई हो कर घूंघट तिरछौरी।
मली पिय के मुख रोरी, बाढ़ी चौंप....॥

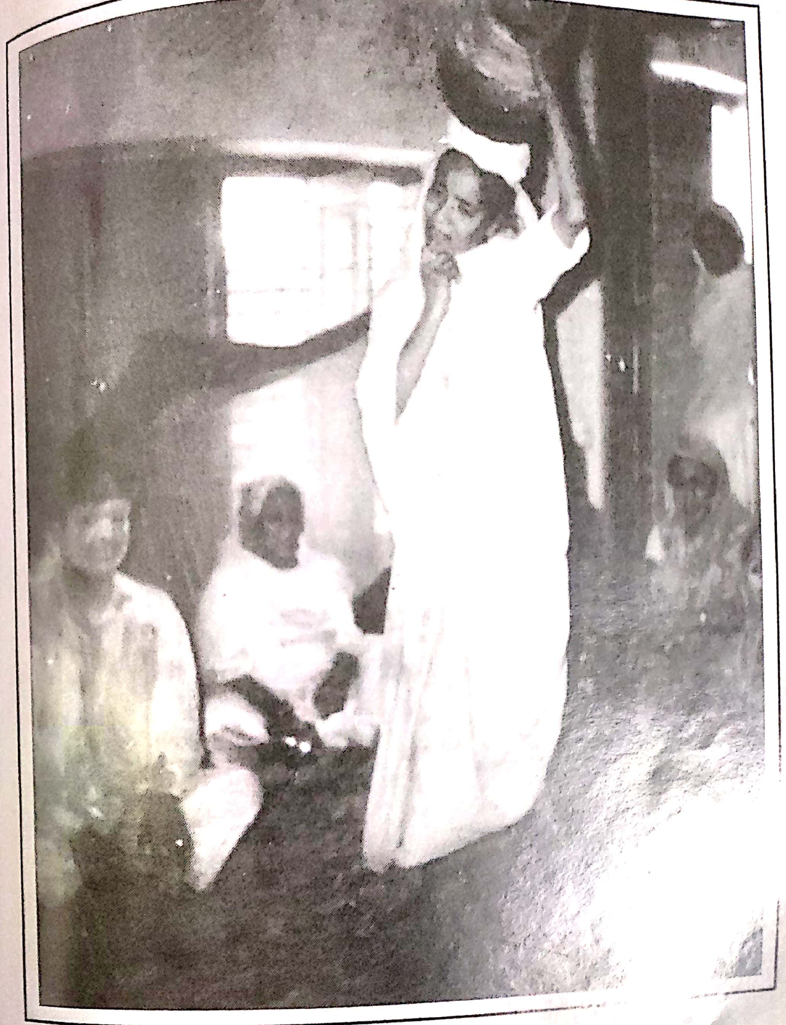
लचकन वचन ढुरनि मुरनि अंग, बातन चतुर किशोरी।
नागरीदास रस विवश बिहारी, भूल गए बर जोरी।
करत नैनन में निहोरी, बाढ़ी चौंप......॥

पद की शब्दावली में दृश्य-अभिव्यक्ति तो भावप्रद है ही, राग काफी में गाए गए सम्मिलित स्वरों की झूम ने पूरे वातावरण को गुंजायमान कर दिया। पद की आरंभिक पंक्तियाँ सुनते ही पू.बहिनजी ने बैठे-बैठे ही ठुमका लगाया। आज वे अपने वश में न थीं। अनायास ही उठीं और झूमती हुई लचकदार सी गति लेते हुए ठाकुर के समक्ष खड़ी हो गईं। ये देख पू.ऊषाजी के चेहरे का आह्लाद भी देखते ही बनता था। उन्हें तो मनोदशा पढ़ने में पल भी न लगता था। वे चुपचाप उठीं और सुनहरी जरी से जड़ा एक बहुत सुन्दर, नृत्य विशेष के लिए रखा लहंगा पू.संतोष जी की कटि में डाल दिया, शीश पर थोड़ा सा घूंघट कर, माथा आवृत कर दिया और लो पू.बहिनजी अब मानों अपने निजस्वरूप में ही ठाकुरजी के समक्ष खड़ी थीं। उन्होंने दरवाजे के पीछे रखी कलशनुमा मटकी उठाई और इस लोक से बिल्कुल ही अनभिज्ञ, अपने ही साम्राज्य में खो गईं, पद के हर शब्द पर भावानुकूल नृत्यमुद्रा प्रकट करती हुई पग नूपुरों की छूम छनन छन से पूरा कक्ष झंकृत हो गया। पगों की थिरकन, कटि की लचकन, हाथों की मुद्राएं.... ठाकुरजी को रिझाने हित किये गये रस नृत्य ने वहां उपस्थित सभी लोगों को विमुग्ध कर दिया। एक एक भावमुद्रा पद के ठीक भावानुरूप थी। ''कियो चहत बरजोरी'' की अभिव्यक्ति पर तो सभी विस्मित हुए ही थे कि ''तकत सखिन सों- चोरी, प्रीतम की ओर देखने की मुद्रा से हर्ष विभोर हो उठे सभी और लो घूंघट की ओट कर गुलाल-मूठ को बचाने का प्रयास कर, प्रीतम का मुख मांडती पू.बहनजी की अभिव्यक्ति.....। सब असमंजस में थे, किस लोक के नृत्य की साक्षी

थे वे। अहा...अहा.... कैसी हृदयस्पर्शी उमंगभरी प्रस्तुति थी। आनंद की सरस वृष्टि होती रही। नृत्य में भावमग्ना पू.बहिनजी की थिरकन, लचकन और और उमंग से लहराती रहीं। एक बार, दो बार, बार-बार, इसी पद की पुनरावृत्ति होती रहीं और पू.बहिनजी अपने उसी लोक में विचरण करती रही, उस लोक में हो रहे फाग उत्सव में शामिल सी। आज भी हर होली उत्सव पर जब नागरीदास जी का ये पद गाया जाता है, उस नृत्य के साक्षी नयन उस दिन की सरस स्मृति से उतना ही आनंद विभोर हो उठते हैं। बाद में भी, होली के दिनों में वे अपने भावों का संवरण बहुत ही मुश्किल से कर पाती थीं।

सन् १९९८ की होली के दिन की बात स्मरण हो आई। उस दिन द्वादशी थी। सुबह पदगान की झूम अभी थी ही, ठाकुरजी को भोग लगाने में अभी काफी समय था। मैं समय मिलते ही पू.संतोष बहिनजी को प्रणाम करने पहुंच गई। सरलाजी के जाने के बाद उनके बिना पू. बहिनजी की ये दूसरी होली थी। यह सोच, मैंने उनसे पूछा–''बहिनजी एक पद सुनाऊँ।'' उनके 'हां' कहने पर मैंने सरलाजी का अति प्रिय पद गाना शुरू किया– ''मेरी मान तो कन्हैया, न खेलो ऐसी होरी'' पहली लाइन सुनते ही वे चौंकीं। मुझे न गाना आता है, न राग का ज्ञान है। सरलाजी के मुख से भी कभी नहीं सुना था। स्वाभाविक ही अटपटा सा गा रही होऊंगी। पर गंभीर बैठी पू.बहिनजी मेरे मन के भाव समझ गईं। बोली- ''ऐसे गा....'' और मुझे वे स्वयं गाकर सुनाने लगीं। फिर प्यार से पूछा–''पूरा याद है?'' मेरे 'हां' कहने पर उन्होंने नैंन मूंद लिए, दोनों हाथ जोड़कर बैठ गई और मैं गाने लगी–

मेरी मान तो कन्हैया, न खेलो ऐसी होरी....।
बरबस कह्यो न माने, चूनर है रंग में बोरी....॥
न खेलो ऐसी होरी॥



होली नृत्य में भाव निमग्न,

कैसो निपट अनारी, कहा काहू को न मानें।
कर जोर कर मैं हारी, चूनर है रंग में बोरी॥
न खेलो ऐसी होरी॥
थर थर कपूँ मैं दइया, कैसी भिजोई रंग में।
घर कैसे जाऊं कान्हा, आवत है लाज मोही॥
चूनर हैं रंग में बोरी॥
इतनी विनय है मोरी, सुनो ललित किशोरी।
है लाज मेरी तुमको, जो होनी थी सो हो ली॥
चूनर है रंग में बोरी॥

संगीत से एकदम अनभिज्ञ मैं कैसे पूरा पद उस उमंग में गा गई आश्चर्य होता है। गान समाप्त हो चुका था पर पू.बहिनजी वैसे ही हाथ जोड़े नैंन मूंदे अपने ही भाव में बैठी रहीं। स्तब्धता सी छा गई। मैं काफी देर बैठी उनके नैंन खोलने की प्रतीक्षा करती रही। पर उनकी तन्मयता बहुत ही प्रगाढ़ थी, वे अपने भाव संयत कर पाने में सफल नहीं हो पा रही थीं। मैं चुपचाप बैठी उनके सान्निध्य का लाभ उठाती रही। जब वे बहुत देर बाद भी यूँ ही निमग्न सी बैठी रहीं तो मैं उनकी उस भावभीनी स्थिति में बाधा न डाल, चुपचाप उन्हें प्रणाम कर लौट आई।

होली उत्सव के इन प्रसंगों में पू.संतोष बहिनजी के जिस स्वरूप की झलक मिली, उसे देख सहसा ही गोपिकाओं का स्वरूप प्रकट करता श्रीमद्‌भागवत जी का ये श्लोक स्मरण हो आता है-

एताः परं तनुभृतो भुवि गोपध्वो
गोविन्द एव निखिलात्मनि रूढभावाः।
वाञ्छ यद् भवभियो मुनयो वयं च
किं ब्रह्मजन्मभिरंनन्तकथारसस्य॥

(१०/४७/५८)

अर्थात् इस पृथ्वी पर केवल इन गोपियों का ही शरीर धारण करना श्रेष्ठ है एवम् सफल है क्योंकि ये सर्वात्मा भगवान श्रीकृष्ण के परम प्रेममय दिव्य भाव में स्थित हो गई हैं। प्रेम की यह ऊंची से ऊंची स्थिति संसार के भय से भीत मुमुक्षजनों के लिए ही नहीं, अपितु बड़े-बड़े मुक्त पुरुषों और भक्तजनों के लिए भी वांच्छनीय है। पू. संतोष बहिनजी ने उस उच्च स्थिति को प्राप्त करने पर भी अपने को 'संत' नहीं कहने दिया। सिर्फ दैन्यवश ही नहीं, मन से भी उनकी यही मान्यता थी, उनका स्वभाविक गुण था और ये स्थिति सब साधनाओं की पराकाष्ठा है। अपना प्रयास नहीं, प्रभु प्रसाद है। उनका अन्त तक दैन्य, वैराग्य और तितिक्षामयी स्थिति बनाए रख पाना, किसी भी प्रकार के प्रलोभन से मन को बचाये रख पाना, निश्चय ही उनकी जीवन का अति दुर्लभ पक्ष है जो सहज ही कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। अंत तक उनमें संतों की चरणरज लेने की उतनी ही तृषा रही।

भूरी बाई से मिलन–

वैष्णव समाज भूरी बाई से भलीभांति परिचित है। श्रीनाथ द्वारा में रहती भूरी बाई पूर्णरूपेण सिद्ध संत थीं। इनकी चक्की से पिसे आटे का ही श्रीनाथ जी को भोग लगता। नारायण स्वामी और भाई जी जैसे महापुरुष भी अत्यधिक श्रद्धा से इनके दर्शन करने आते थे। इतनी उच्चस्तर की संत थीं पर सब काम अपने हाथों से ही करती थीं। जंगल से घास तक काटकर लाती थीं। जब कभी ये वृन्दावन आतीं तो दर्शन के लिए लोगों की भीड़ लग जाती। श्रीधाम में ये जयपुर वाले मन्दिर में ठहरती थीं। इनकी कुटिया के बाहर द्वार पर लिखा था "चुप।" सन् १९८० के आसपास की बात है। किसी परिचित से भूरी बाई के वृन्दावन आगमन का समाचार मिला। तुरन्त ही पू.संतोष बहिनजी, श्रीऊषाजी व उनके परिकर की अन्य बहिनों को साथ ले जयपुर वाले मन्दिर पहुंच गईं। छोटे से कक्ष में भूरी बाई रहती थीं। कक्ष के अन्दर

स्त्रियों के बैठने की व्यवस्था थी और पुरुष बाहर प्रांगण में बैठते थे। ऐसी मर्यादा भरी व्यवस्था थी। पू.संतोष बहिनजी व सभी बहनें कक्ष के अन्दर जाकर बैठ गईं। प्रवेश करते ही सब तेजस्विनी भूरी बाई को देखती ही रह गईं। लम्बे कद की, सफेद मटमैली सी धोती पहने, केशविहीन शीश, पूर्णतया धोती से ढका हुआ, भावमग्न चेहरा....बहुत ही प्रभावशाली व्यक्तित्व था। सरल चित्त भूरीबाई के रोम रोम से स्नेह टपकता था। हर चेष्टा से प्यार ही प्यार बरसता था। उन्हें देख, बस एक ही नाम दिया जा सकता था "प्रेममयी।" कमरा छोटा सा था। सभी बहनें सिमट सिमट कर बैठ गईं। पू.मनोहर दास बाबा भी थोड़ी देर बाद पहुंच गए। अन्दर जाने लगे तो किसी ने उन्हें भीतर जाने से रोका- "पुरुषों के बैठने की व्यवस्था बाहर है।" बाबा कहां मानने वाले थे, बोले- मैं क्यों बाहर बैठूँ, मैं भी अन्दर जाऊंगा।" कहते हुए सबको पार करते हुए सबसे आगे जा भूरी बाई के पास ही बैठ गए। उन्हें प्रणाम करने पर भूरी बाई ने बाबा को स्नेहवश अपने अंक में बिठा लिया। पू.संतोष बहिनजी ने उलाहना देते हुए कहा- "बेटा है न, विशेष स्नेह तो उमड़ेगा ही" भूरी बाई निश्छल सी हंसी हंस दीं और अति लाड़ में भर पू.बहिनजी की पीठ पर थपकियां देती हुई "मरो, मरो," कहतीं उन्हें पीछे करने लगीं।

किसी ने उनसे निवेदन किया- श्रीकृष्ण की चर्चा सुनाइए। आप बोलीं- "कृष्ण की कोई कथा नहीं है। कहो तो गोपिओं की कथा सुनाऊं, पांडवों की कथा सुनाऊं" इस मर्म भरे वाक्य पर मुग्ध से सभी उन्हें देखते ही रह गए। काफी देर सभी उनके सामीप्य में बिता उनके स्नेह, ममताभरे अपनत्व को हृदय में संजोए वापस लौट आए। अस्तु

संत निष्ठा–

लगभग १२ वर्ष प्रेम बहन वाले सिंधी कालोनी के घर में रह कृष्ण प्रेमिनी पू.संतोष बहिनजी ने रसमत्त भ्रमरी सा जीवन बिताया।

वृन्दावन का शायद ही ऐसा कोई संत हो जिनसे ये परिचित न हों। सन् १९८१ में वह मकान प्रेम बहन को बेचना पड़ा, सो पू.बहिनजी राधारमण मन्दिर के पास ही गली में श्रीअवधबिहारी लाल कपूर जी के घर आ गईं। कपूर साहब से सभी "ब्रज के भक्त" के लेखक के रूप में परिचित हैं। इनके घर में पू.संतोष बहिनजी ऊपर दुमंजिले वाले कमरे में रह रही थीं। प्रज्ञाचक्षु सरला जी को पूरा प्रांगण पार कर सीढ़ियों से ऊपर ले जाने में काफी असुविधा होती और उस पर बंदरों का प्रकोप....कुल मिलाकर परिस्थिति सुविधाजनक नहीं थीं। पर कष्टमय स्थिति में भी वृत्ति को बनाए रखने में पू.बहिनजी पूर्णतया सक्षम थीं।

यहां रहने का सबसे बड़ा सुख समीप ही स्थित श्रीलोकनाथ गोस्वामी जी की समाधि का सान्निध्य था। दो घर छोड़ कर ही गोकुलानंद जी का ये मन्दिर अपने आप में बहुत ही विशिष्टता लिए हुए है। बाहर बायीं ओर वृक्षों के झुरमुटों से घिरी महाप्रभु के प्रिय लोकनाथ गोस्वामी जी की समाधि है और उनके दायीं ओर श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती और ठाकुर नरोत्तम दासजी की समाधियां हैं। चारों ओर का शांत वातावरण और श्रीचैतन्य महाप्रभु के परिकर के ये दिव्य महापुरुषों की सूक्ष्म, पर अति प्रगाढ़ व्यापकता लिए उपस्थिति। समीप बैठते ही मन स्वतः ही नाम में डूब जाता है। इसी आकर्षण से पू.बहिनजी का अधिक समय अब इन्हीं के पावन प्रेमप्रदायी सान्निध्य में बीतने लगा। आप यहां आकर अपनी भाव तन्मयता में निमग्न बैठी रहतीं। समय का पता ही न चलता। सर्दियों में तो पूरा पूरा दिन यहां धूप में बैठी नाम चिन्तन में डूबी रहतीं। समाधियों वाले प्रांगण में दायीं ओर अंदर मन्दिर में श्रीलोकनाथ गोस्वामी जी के सेव्य ठाकुर श्रीराधा विनोद विराजित हैं। उनके दायीं ओर श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती के महाप्रभु और बायीं ओर श्रीनरोत्तम ठाकुर के सेव्य श्रीराधा विजय।

नीचे विद्याभूषण जी के सेव्य ठाकुर हैं। इसी मन्दिर में एक छोटी सी शिला भी है, जिस पर महाप्रभु के अंगूठे का निशान बना हुआ है। मान्यता है कि गंभीरा में महाप्रभु ने अपने हाथों से गुंजा माला के साथ ये शिला रघुनाथ गोस्वामी को वृन्दावन आने के समय दी थी। पू. बहिनजी इस शिला का दर्शन करते ही कैसी कैसी हो जाती थीं; घंटों अपनी बेसुधि में इस पावन स्थली पर बैठी रहतीं।

इन्हीं दिनों पू.बहिनजी काफी बीमार हो गईं। इन्हें कई दिनों से काफी तीव्र ज्वर आ रहा था। कभी कभी बीच में ठीक भी हो जाता था। एक दो दिन छोड़कर फिर अस्वस्थ हो जातीं। डाक्टर को दिखाने पर उसने टायफायड ज्वर की आशंका बताई और उपचार शुरू कर दिया। उन दिनों पू.संतोष बहिनजी को अर्थ का काफी अभाव था। उनके मामाजी का देहान्त हो चुका था। कानपुर से रुपए आने की व्यवस्था काफी अनियमित हो गई थी और ये तो किसी को पैसे भेजने का कभी संकेत भी न करती थीं। सरलाजी का काफी पैसा था पर इन्होंने कभी भी उसमें से अपने पर एक पैसा भी खर्च नहीं किया। और किसी से भी सहायता लेना इन्हें स्वीकार न था....। अहा! कैसी विचित्र ठाकुर निर्भरता। डाक्टर दूध, फल लेने के लिए कहता और यहां दवाई के लिए ही पैसे नहीं थे। अपनी बीमारियों को इन्होंने सदैव ही प्रारब्ध काटने का पर्याय मान, धैर्य से सहना ही श्रेयस्कर लगा। क्या ही आश्चर्य, टायफायड जैसे ज्वर में भी ये अपने आहार में वही सूखी मोटी रोटियां लेती रहीं। साधारणतया एकदम निषेधित उस आहार को लेने पर भी इन पर कुछ भी कुप्रभाव नहीं पड़ा। अस्वस्थता से कमजोरी बहुत ही बढ़ गई थी पर इनकी सजगता देखने योग्य थी। पू.ऊषाजी जब इन्हें देखने आतीं तो लीला कथा चर्चा होना स्वाभाविक ही था। उस वक्त पू.बहिनजी एकदम सीधी बैठी पूरी तन्मयता से लीला कथा सुन

रही होतीं। इन्हें देखकर लगता ही न था कि ये टायफायड जैसे ज्वर से पीड़ित हैं। टायफायड से ठीक होने के कुछ माह बाद ही एक और दुर्घटना घट गई। चाय बनाने के समय उबलते हुए गर्म पानी का पतीला इनसे छूट गया। गर्म पानी इनके पूरे शरीर पर ही पड़ा पर छाती और पेट बुरी तरह जल गए, फफोले पड़ गए पर सहनशीलता की प्रतिमूर्ति ने किसी को खबर ही न दी। पू.मनोहरदास बाबा व श्रीऊषाजी को जब पता चला तो वे चिंतित से इन्हें उपचार के लिए कहते रहे पर उपचार का प्रयास तो तब होता जब ये अपने घाव किसी को देखने देतीं। मनुहार, अनुनय, विनय, सभी प्रयत्न हार गए पर ये अपने शरीर का कोई अंग किसी को दिखा ही न सकती थीं। स्वयं सेवा की आदर्श किसी से सेवा लेने की सोच भी न सकती थीं। न जाने कितने दिन इन्होंने ऐसे कष्ट में ही बिता दिए।

तन की रुग्णता और इस घर की असुविधा ने इन्हें घर बदलने को विवश कर दिया। इनके कष्टों को देख सिंधी कालोनी में रह रही ललिता माताजी, उनके पुत्र और पुत्रवधू ने इन्हें वहां अपने घर में रहने का बहुत बहुत आग्रह किया। अन्ततः ये सिंधी कालोनी ही चली आईं। यहां एक कमरे में पू॰ऊषाजी की प्रिय सखी पुष्पाजी रहती थीं और दूसरे कमरे में सरलाजी के साथ पू.संतोष बहिनजी रहने लगीं। पर ये घर काफी नीचा बना हुआ था और वर्षा के दिनों में इसमें पानी भर जाता था। पू.संतोषजी वर्षा के दिनों में तो बहुत ही घबराई सी रहतीं। बादल देखते ही मेघ गर्जन सुनते ही, नभ में काली घटा देखते ही ये व्याकुल हो जातीं। सरलाजी का हाथ थामें झट घर की ओर दौड़ लगा देतीं और उच्चस्वर से ऊषाजी को, विजय भाई को जल्दी भेज देने का आग्रह भी करती जातीं। पानी भर जाने से सरलाजी को घर तक ले जाना बहुत ही असुविधाजनक होता। अगर घर पर भी होतीं तो उनकी

घबराहट उतनी ही होती। उस वक्त उनके नेत्रों में भय, वाणी में भय, चेष्टाओं में भय....बहुत ही विचित्र स्थिति होती। सदैव निर्भीक रहने वाली पू.बहिनजी का इस भीत मुखमुद्रा का कौतुक वास्तव में सबको कौतूहल से भर देता। पूज्या संतोष बहिनजी में सभी वैष्णवोचित गुण पराकाष्ठा लिए हुए थे। उनकी प्राणीमात्र के प्रति करुणा देख, सहसा ही श्रीमद्भागवत में वर्णित रन्तिदेव जी के वचनों का ध्यान आ जाता है, जिसमें वे कहते हैं–

न कामयेऽहं गतिमीश्वरात् परा
मष्टिर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा।
आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजा–
मन्तः स्थितो येन भवन्त्यदुःखाः॥

(९/२१/१२)

अर्थात् मैं भगवान से आठों सिद्धियों से युक्त परमगति नहीं चाहता और तो क्या, मैं मोक्ष की भी कामना नहीं करता। मैं चाहता हूं तो केवल यहीं कि मैं सम्पूर्ण प्राणियों के हृदय में स्थित हो उनका सारा दुःख सहन करूं, जिससे किसी भी प्राणी को दुःख न हो।''

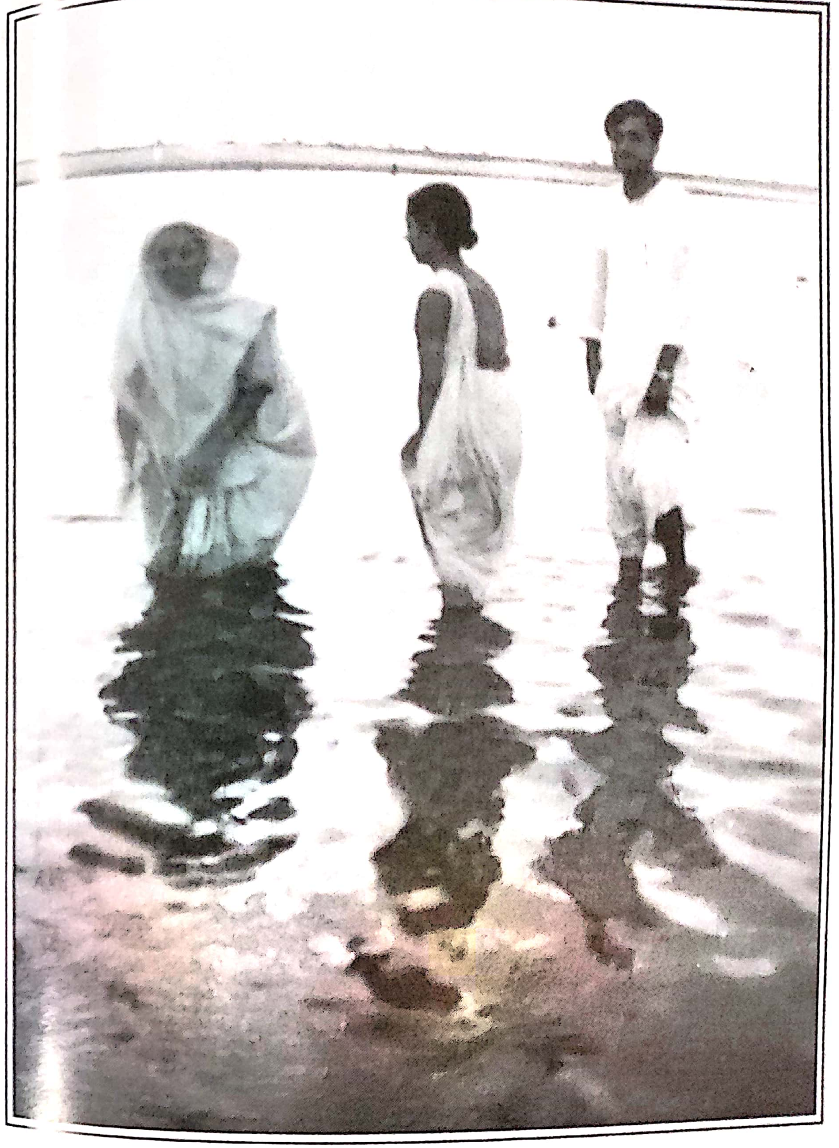
ठीक यही स्वरूप पू.बहिनजी का भी देखने में आया। परदुःख-कातरा संतोष बहिनजी दूसरों के दुःख में बहुत ही व्याकुल हो जाती थीं और येनकेन प्रकारेण उनके कष्ट निवारण के उपाय भी करतीं। उनका सेवा भाव अद्वितीय था। परिचितों की सेवा तो सबमें प्रकट सी थी पर यमुना पुलिन पर बैठे अपरिचित भिक्षु, कोढ़ियों और दीन दुखियों की सेवा भी वे बिना किसी संकोच या घृणा के करती देखी गईं। घर से पानी गर्म करके ले जातीं। रूई, दवाइयां और पट्टियां साथ ले जा उनकी सेवा करतीं। स्त्री-पुरुष का भी भेद नहीं करती थीं। अर्ध विक्षिप्त से पड़े नंग-धड़ंग भिक्षुओं को वस्त्र भी धारण करा देती

थीं। इस संदर्भ में किसी के कुछ कहने पर बोलीं– ''संकोच, भय कैसा। मां हूँ उनकी।'' ऐसी प्राण पगी सेवा का कोई और उदाहरण सहज ही देखने में नहीं आता। पर दूसरों की इतनी सेवा करने वाली बहिनजी खुद बहुत ही निरपेक्ष भाव से रहीं।

उनकी छोटी बहन शांताजी यदाकदा अपने बच्चों– कुक्कू और किरण के साथ वृन्दावन आती थीं। सरल हृदया शांताजी की अपनी बड़ी बहन के प्रति अत्यधिक श्रद्धा थी। वे उनके गरिमामय व्यक्तित्व से भलीभांति परिचित थीं पर बहिनजी तो किसी की भी अपने प्रति पूज्य भाव या मोह को सह ही नहीं सकती थीं। इसीलिए उनका व्यवहार अपने रक्त संबंधी परिजनों के प्रति रूक्षता लिए ही होता। वे शांताजी को कभी अपने पास ज्यादा बैठने भी न देतीं। पू॰ऊषाजी के यहां भेज देतीं या फिर देव दर्शन के लिए भेज देतीं। रात्रि ठहरने की व्यवस्था भी कहीं और ही करवा देतीं। अपने पास इन्होंने कभी किसी परिजन को रहने नहीं दिया। अंतिम समय की मरणासन्न अवस्था में भी जब कुक्कू और किरण आए तो उन्हें हरमिलाप आश्रम में ही रहना पड़ा। अपनी सेवा के लिए भी उन्हें अपने यहां रहने नहीं दिया। अंत तक इतनी निरपेक्षता निश्चय ही उनके व्यक्तित्व की उत्कृष्ट झलक है। कुक्कू और किरण पू.संतोष बहिनजी के नाते साधु भक्ति विजय को 'मामाजी' ही कहते थे। लखनऊ में जब पू॰विजयजी नौकरी कर रहे थे तभी से उनसे इन सबका बहुत ही आत्मीयता का सम्बन्ध था पर पू.बहिनजी को साधु भक्ति विजय भी कुछ नहीं कह सकते थे।

साधु भक्ति विजय–

१९३८ में अम्बाले में जन्मे विजय कौशल १९ वर्ष की आयु में अपनी गुरु पू॰ऊषाजी के सम्पर्क में आ गए थे। १९७२ में जब ये



पूज्य ऊषा जी, व भक्ति विजय के साथ पूज्य संतोषजी यमुना जी में

उच्च पद पर थे, घर बार सब कुछ त्याग वृन्दावन वास के लिए आ गए तो पू.संतोष बहिनजी की महिमा दर्शाते हुए श्रीऊषाजी श्रीविजय भाई को सर्वप्रथम बहिनजी के दर्शन एवं प्रणाम कराने लेकर गई। उस वक्त उन्होंने श्रद्धेया संतोष जी के लिए कहा था– "विजय! चल सबसे पहले सेवा की साक्षात् मूर्ति, परम भक्ता, छोटी यमुना स्वरूपिणी पू॰बहिनजी को प्रणाम कर आशीर्वाद ले।" विजय को साथ ले जा पू॰ऊषाजी ने उन्हें पू.बहिनजी की गोद में डालते हुए कहा था– "आपका छोटा बालक है, इसकी सार सम्हार करना।" ममतामयी संतोष बहिनजी ने अतिशय स्नेह वर्षा करते हुए विजयजी को अनेकों आशीर्वाद दिए। श्रीऊषाजी के कृपा वारि से सिंचित वे आज के 'साधु भक्ति विजय' है। ऊषाजी के इन लाड़ले शिष्य पर बहिनजी का अंतिम समय तक बहुत ही स्नेह रहा। एक बार नवरात्रों पर कन्या पूजन के समय बहनों को भोजन भेजते हुए कहा था "विजय की भी थाली दो, वो भी कंजक (कन्या स्वरूप) ही है। ...." इन शब्दों से साधु भक्ति विजय के प्रति उनके विशिष्ट स्नेहिल संबंध की झलक मिलती है। अस्तु, वास्तव में उन्होंने अपने जीवन में इन अध्यात्म के संबंधों को ही मान्यता दी।

श्रीबिहारी भाई–

उन्हीं संबंधों में "बिहारी भाई वृन्दावनी" का भी विशिष्ट स्थान है। विष्णु सम्प्रदाय में दीक्षित बिहारी भाई की रसिकों के पदों में स्वभावगत रुचि थी और ये अपने उत्कृष्ट लेखन और सम्पादन के लिए ब्रजमंडल में सभी के सम्मानीय थे। उनकी आध्यात्मिक अनुभूतियां उनके अन्तमुर्खी संकोची स्वभाव के कारण लगभग अप्रकट सी ही थीं पर पू.मनोहर दास बाबा, बनवारी शरण जी और संतोष बहिनजी के साथ हुई चर्चाओं में उनकी प्रिया प्रियतम के प्रति अनूठी निष्ठा देखने

में आती थी। पू.बहिनजी के यहां इनका उन दिनों अक्सर ही आना हो जाता। पू.बाबा भी उन दिनों लगभग हर रोज ही बहिनजी के यहां आते और इस तरह ठाकुर चर्चा में घंटों बीत जाते। संतोष बहिनजी के मुख से सखा जी का परिचय और उनके द्वारा प्रदत्त लीलाओं की सरस अलौकिक अभिव्यक्ति सुन, बिहारी भाई की पू.ऊषाजी से मिलने की उत्कंठा बढ़ गई। पू.संतोष बहिनजी ने ही उनका परिचय पू॰ ऊषाजी से करवाया था।

श्रीधर्म जी –

इन्हीं शाश्वत संबंधों में से एक थीं दिव्य विभूति धर्म जी। जन्म से सिद्ध, आध्यात्मिक संपदा से युक्त धर्म जी रस साम्राज्य की झिलमिलाती पारसमणि थी। बाल्यकाल में चमत्कारिक घटनाओं से विभूषित धर्मजी सर्वप्रथम लाहौर के वार्षिक सत्संग सम्मेलन में पू. संतोष बहिनजी से मिली थीं पर उस वक्त श्रीधर्म जी व संतोष बहिनजी दोनों ही भाव सिन्धु के अन्तर-तल में डूबी बाह्य जगत से बेखबर थी। उनकी सजग सचेतन भेंट श्रीधाम में ही हुई। पू॰ऊषाजी के साथ लीला श्रवण करती इस सखी मण्डल में धर्म जी का लीला अभिनिवेश तो उनके उत्फुल्ल चेहरे से ही व्यक्त हो जाता था जिसे बड़ी रीझ से संतोष बहिनजी देखा करतीं। उन्हीं के शब्दों में– ''मैं तो लीला सुनने के वक्त धर्मजी के चेहरे पर आते जाते भावों को देख मुग्ध हो जाती थी।'' परस्पर एक दूसरे के स्वरूप से परिचित इन महाभागाओं के ''स्वरूप प्रकाश'' की सरस झांकी पृ.... पर भी वर्णित है।

श्रीललिता बाबूटा जी–

पू॰ संतोष बहिन जी के स्नेहिल परिजनों में श्रीललितजी भी उनकी बहुत ही आत्मीया थीं। गरिमामयी ललितजी के परदुःख निवारण की अनेकों चमत्कारिक घटनाएं प्रसिद्ध हैं पर मूलतः वे प्रिया जी की

आत्मीया, माधुर्य रस में पगी एक गोपी बाला ही थीं। इनकी श्रीधाम और ब्रज रज के प्रति अतुलनीय निष्ठा थीं। अपने जीवन का अधिकांश भाग विदेशों में बिताने के बावजूद वे ब्रज की ही थीं और जब ब्रजमण्डल में स्थायी रूप से आ गईं तो यहां से कितने ही श्रद्धालुओं को ''रज'' और बिहारीजी का ''चरणामृत'' विदेशों में उपलब्ध करा उन्हें अनुराग रस में बोरती रहीं। पू.संतोष बहिनजी भी सिंधी कालोनी में ही थीं सो उनसे परिचय व प्रीति होना स्वाभाविक ही था। बीच के कुछ अन्तराल में दोनों ही रस साम्राज्य में डूबी सिमटती गईं सो बाह्यरूप में उनका मेलजोल अधिक देखने को न मिला। पर अन्तर लहरियों के एकत्व का आश्चर्यमय प्रमाण ही है कि पू.संतोष बहिनजी के महाप्रयाण के ठीक एक महीने बाद (३ सितम्बर २००४) उसी तारीख को उसी संध्या समय पू॰ ललितजी ने भी इस धराधाम से अपनी लीला संवरण कर ली।

''श्री कृष्णानंद भारती जी''–

मां आनंदमयी से दीक्षित सुश्री कृष्णानंद भारती बहिन जी की साधनस्थली उत्तर प्रदेश की दुर्गम पहाड़ियों से घिरा भुजवास गांव था पर वृन्दावनेश्वरी की कृपावृष्टि हुई, इनका श्रीधाम वास का सुयोग बन गया और यहां की सरस उपासना के अनुरूप माधुर्य रस का उत्स ही प्रस्फुरित हो गया। श्रीधाम में जब इनका सम्पर्क माधुर्य रस में पगी इन गोपबालाओं सदृश, श्रीसंतोष बहिनजी, श्रीऊषाजी, श्रीधर्मजी व ललितजी आदि से हुआ तो उस रस की उच्छलन से वे सराबोर हो गईं। दिन रात लीला चिन्तन में ही बीतने लगा। लीला श्रवण में इनकी त्वरा देखने योग्य थी। पू॰ऊषाजी के ठाकुरजी को ''रसीले ठाकुर'' का संबोधन कर ठहाका मारकर हंसती भारती जी पर पू॰बहिनजी रीझ

उठती थीं और जब पू॰ ऊषा बहनजी को लीला पढ़ने, पद सुनाने को प्रेरित करतीं वे "ब्ल्यू बुक" "ब्ल्यू बुक" (पदों की डायरी) की गुहार लगातीं तो पूरा सखी मंडल ही उन्मुक्त हंसी की लहरियों से तरंगित हो जाता। यमुना पुलिन पर ये महाभागाएं जो लीला चर्चा में बैठतीं तो घंटे पलों में ही बीत जाते। पू॰ सन्तोष बहिनजी के लीला संवरण के लगभग छह मास के पश्चात् २३ फरवरी २००५ को भारती बहिन जी ने भी इस धरा से अपने को समेट लिया। गोपियों के हास परिहास स्वरूप की झलक सी दिखा ये सभी शायद नित्य लीला धाम में प्रिया प्रियतम के संग कुंजों निकुंजों में आमोद प्रमोद रत हो गई हैं। अस्तु, इस भौम वृन्दावन में भी उनकी ठाकुर संलग्नता सतत ही दृष्टिगोचर हो जाती थी।

दिसम्बर ८४, विहार पंचमी के दिन की बात है। स्वप्न में पू. बहिनजी ने राम-विवाह की बहुत सुन्दर झांकी देखी। रामजी सुनहरी काम वाले मैरून ऊन के वस्त्र पहने हुए विविध आभूषणों से शोभित, उनकी शृंगार छवि अति मन लुभावनी थी। उन वस्त्रों की झिलमिल पर संतोष बहिनजी की दृष्टि ऐसी अटकी कि जागने पर भी वे उसी स्मृति में खोई रहीं। कितनी ही देर वह छवि छटा उन्हें पुलकित करती रही। जब वह वे श्रीऊषा जी के यहाँ श्रीठाकुरजी को प्रणाम करने आईं तो पूछ ही लिया–"ऊषाजी ठाकुरजी के नए वस्त्र बना रही हो क्या? मैंने रामजी को लाल ऊनी वस्त्रों में देखा है। पू. ऊषाजी ने झट अलमारी से निकाल, मैरून ऊन के वस्त्र दिखाए। वस्त्र अभी बनाने शुरू ही किए थे। बिल्कुल वैसे ही वस्त्र थे। संतोष बहिनजी उन्हें देख बहुत ही खुश हुईं। ठाकुरजी आध-अधूरे बने वस्त्र पहिले ही बहन जी को दिखा आए, इस बात से पू॰ऊषाजी गद्‌गद हो गईं और उन्हें वस्त्र जल्दी ही पूरे करने की चटपटी लग गई। उन्होंने वह वस्त्र मकर संक्रान्ति के पर्व

पर धारण करा दिए। उस दिन जब बहिन जी आईं तो देखा इन वस्त्रों में ठाकुरजी की सौंदर्य माधुरी स्वप्न में देखी उस झांकी से होड़ सी ले रही थी। हर्षमग्न बहिनजी एकटक ठाकुरजी को निहार रही थीं और इधर ऊषाजी व अन्य बहिनें मुग्ध सी उन्हें देख रही थीं। इन सभी बहनों पर बहिनजी का अतिशय प्रेम था और इन्हें उन्होंने विविध प्रकार से सिंचित भी किया। संतों के दर्शन तो बहुत ही उमंग से करवाती थी।

श्रीकृष्ण प्रेमी जी–

दक्षिण भारत के सुप्रसिद्ध रसिक संत कृष्ण प्रेमी जी का परिचय इन्हें प्रथमतः कल्याण में छपे उनके वेणुगीत पर लिखे लेख से ही मिला था। फिर उनके वृन्दावन आगमन का पता चला। इनकी संत निष्ठा उनकी बाट जोहती रहती थी। इतनी कम वयस में इतनी उपलब्धियाँ लिए कृष्ण प्रेमी जी दक्षिण प्रांत के वैष्णव समाज के अग्रणी गणों में हैं। राधाष्टमी के आसपास ये वृन्दावन आते, बहिनजी इन्हें प्रणाम करने जाती। चार सम्प्रदाय आश्रम के पीछे कुछ दूरी पर छोटे से दो कमरों में श्रद्धालुओं से घिरे श्रीकृष्णप्रेमी जी भी इन महिमामयी को उतना ही सम्मान देते थे। जब इस वर्तमान मन्दिर की स्थापना हुई तो भूमि पूजन के समय उदारमना संतोष जी सभी बहनों को तांगे में बिठाकर श्रीकृष्णप्रेमी जी के दर्शनार्थ लेकर आईं। उन दिनों तक ये इलाका बहुत ही सुनसान सा था। पूरा दिन सभी बहनें इस आश्रम के उत्सव में सम्मिलित हुईं और दक्षिण के नियमानुसार किए गए पूजन अर्चन स्तुत्य से बहुत ही आनंद विभोर हुईं। पू॰ संतोष बहिनजी का उत्साह, और उमंग तो देखते ही बनता था।

सत्संग, कथा में जाने को तो ये सदैव ही उमंगित रहतीं। एक बार ये सरलाजी को साथ लेकर कहीं कथा में गईं हुई थीं। पीछे से

खन्ना जी के घर की तरफ से सीढ़ियां चढ़कर एक चोर इनके घर में घुस गया। ये जब आईं तो देखा ताले टूटे हुए थे, दरवाजे खुले थे, रेजगारी भी गायब थी। समझ गईं कि कोई चोर घर में घुसा है। संध्या का समय था। इधर उधर बहुत देखा और जब तख्त के नीचे टार्च जलाकर देखा तो वहां एक बच्चा छुपा था। इन्होंने हाथ की चाबियां उस पर दे मारीं और निर्भीक स्वर में कहा ''बाहर निकल''। वह डर गया। शोर मच गया, सब आस पड़ोस वाले इकट्ठे हो गए। श्रीविशुद्धानंद महाराज जी भी पहुंच गए। कई लोग तड़ातड़ उसे पीटने लगे। उनको इस तरह एक बच्चे को मारते देख इनकी ममता उमड़ पड़ी। बार-बार ''मारो मत, इसे मारो मत, बच्चा है'' कहकर, जाकर उसे छुड़ा दिया। लड़के को ये पहचान गई थीं उसके पिता को भी जानती थी। जरूमतमंद समझ कर वो रेजगारी भी उसी को दे दी।

''आंख का आपरेशन''–

पर इस घटना से सभी चिंतित हो गए। सरला जी प्रज्ञाचक्षु थीं और अंधेरे में अब बहिनजी को भी ठीक दिखाई न देता था। दोनों ही आंखों में मोतियाबिंद उतर आया था। पू.महाराजश्री और मनोहर दास बाबा इनसे आंख का आपरेशन करा लेने का आग्रह करने लगे। अब तक इंकार करती बहिनजी स्थिति की गंभीरता को समझने लगीं और आपरेशन के लिए सहमति दे दी। पू.बाबा मथुरा सुप्रसिद्ध नेत्र विशेषज्ञ डा.कुलश्रेष्ठ को घर पर ही ले आए। उन्होंने बहिन जी को देखते ही शीघ्र आपरेशन करा लेने का परामर्श दिया। पहले तो ये टालमटोल करती रहीं। वस्तुतः अस्पताल में रहने को इनका मन कदापि स्वीकृति नहीं देता था और उस पर श्रीसरलाजी की असुविधा की सोच; ये परेशान थीं। पू॰ बाबा ने आपरेशन घर पर ही करने की पूरी व्यवस्था करवा दी। पू॰ऊषाजी ने राजदुलारी बहिनजी को देखभाल की पूरी

जिम्मेवारी सौंप दी। पू॰ बाबा के साथ डा.कुलश्रेष्ठ जब घर पर आए तो पू.बहिनजी बोलीं– ''इस कमरे में तो ठाकुर विराजमान हैं, यहां आपरेशन करना ठीक नहीं। बाहर बरामदे में चादर टांगकर कक्ष सा बना लेते हैं।'' डा.कुलश्रेष्ठ बोले-'' मैय्या मैं भी ब्रजवासी हूं, ठाकुरजी की गरिमा और सेवा से भलीभांति परिचित हूं। मेरा ये आपरेशन करना ठाकुर पूजन ही है। वैसे भी हम डाक्टर लोग प्रभु को प्रणाम करके ही आपरेशन शुरू करते हैं, सो आपरेशन तो इसी कक्ष में, ठाकुरजी के समक्ष ही होगा।'' वस्तुतः सूत्रधार तो श्यामसुन्दर ही थे। पू.बहिनजी को मानना पड़ा। पर संत पद रज में अतुलनीय निष्ठा रखने वाली बहिनजी बिना किसी संत को प्रणाम किये कैसे आपरेशन करवा लेतीं। इनके कहने पर राजदुलारी बहिन शील जी को बुलाने चल दीं। शील जी अभी ठाकुर सेवा में ही थीं पर इनके आपरेशन की सुन झटपट चली आईं। सभी की पू॰संतोष बहिनजी के प्रति अगाध श्रद्धा थी। इस तरह पू. संतोष बहिनजी की आंख का आपरेशन हो गया और थोड़े दिन बाद दूसरी आंख का आपरेशन भी सफलतापूर्वक घर पर ही हो गया। इस बार चंडीगढ़ से निर्मला भाभी को बुलाया जिन्हें कुछ दिन पू. बहिनजी की सेवा का सुदुर्लभ अवसर मिल गया। अस्पताल में न जाने की उनकी जिद को ठाकुरजी ने निभाते हुए, सहज ही उनके उपचार की सारी व्यवस्था घर पर करवा, मानों अपने सभी प्रेमी बांधवों को सदैव उन पर आश्रित हो, निर्भय रहने का आश्वासन दिया।

वस्तुतः 'अध्ययन' पू.बहिनजी की दिनचर्या का मुख्य अंग था, सो ठाकुरजी ने उनके नेत्रों की सुरक्षा हित सब व्यवस्था बड़े कौतुकमय ढंग से करा दी। अब संतोष बहिनजी फिर उन्हीं ग्रन्थों में मग्न हो गईं और उन्होंने नेत्रों के ठीक होने का हर पल पूरा-पूरा लाभ उठाया। दिन रात पुस्तकें ही उनकी संगिनी थीं। कल्याण के सत्कथा अंक, संत

अंक, संत वाणी अंक, व भक्त अंक इन्हें बहुत ही प्रिय थे। भक्तों के चरित्र और श्रीसुदर्शन सिंह चक्र जी की कहानियां तो इन्हें इतनी प्रिय थीं कि कल्याणांकों से पृष्ठ निकाल कर उनकी अलग किताब सी ही बनवा ली थी।

उन्हीं दिनों इनके आपरेशन का सुन पू.आनंद दास बाबा इन्हें देखने आए। दैन्य की मूर्ति श्रीसंतोष बहनजी इन्हें देखते ही झट तख्त से उतर नीचे जमीन पर बैठ गईं। बाबा को तख्त पर बिठा उनकी चरणधूलि लेने लगीं। इनके स्वभाव से परिचित बाबा हँस दिए और कुछ ही पल में सब कुछ भूल वहां बैठे सभी लोग ठाकुर चर्चा में डूब गए, इन्हें तो वैसे भी अपनी बीमारी का ख्याल आता ही नहीं था। दिन रात लीला चिन्तन में ही बीतता था। ठाकुर भी इनके अंग संग ही डोलते थे। एक दिन साधु भक्ति विजय इन्हें देखने और प्रणाम करने आए। बहिनजी उस वक्त सरोज बहिन की सहायता से ठाकुरजी के भोग की व्यवस्था कर रही थीं। बरफी का चूराकर आटे में भर परांठे बनवाती संतोष बहिनजी ने विजय भाई को प्रसाद वहीं पाने का आग्रह किया। घी से सराबोर इन परांठों को साधु भक्ति विजय ने खाने से इंकार कर दिया। लाड़ में भर पू.बहिनजी डांटती सी कह उठीं- ''नखरैलू कहीं का'' विजय भाई तो नखरे दिखा रहे थे पर ठाकुरजी मानों बेसब्री से उन पराठों की प्रतीक्षा कर रहे थे। पू.बहिनजी को आभास हुआ मानों ठाकुर कह रहे हैं ''हम खाएंगे, हम खाएंगे...'' ये भाव विभोर हो उठीं। भोग लगाकर इन्होंने उस प्रसादी परांठे का कण ले, शेष टुकड़ा पू॰ऊषाजी को भिजवा दिया। अन्तर्यामिनी पू॰ऊषाजी ने भी उसमें से कण ले सभी बहनों में वो बांट दिया। ठाकुर स्फुरणा और अनुभूतियों से इन संतों का तो पूरा जीवन ही ओतप्रोत था। अस्तु

१९८९ में ललता माताजी ने घर का वो हिस्सा जिसमें पू. बहिनजी रहती थीं, अमीचंद जी को बेच दिया। अमीचंद जी का

दिल्ली में व्यवसाय था। दिन रात अपने आराध्य राधामाधव की सेवा में रत वे व्यवसाय की ओर ध्यान ही नहीं देते थे। फलस्वरूप सांसारिक सुखों का अभाव और बन्धु वर्ग की उपेक्षा होनी स्वभाविक ही थी। उन दिनों अमीचंद जी बरसाने में श्रीजी के आश्रय में साधनामय जीवन बिता रहे थे। इधर दिल्ली में व्यवसाय रक्षार्थ ठाकुरजी ने कुछ अलौकिक कृपा दान किया। भाव विह्वल अमीचंद जी घर गृहस्थी में अब और न रह सके और सब कुछ छोड़ स्थायी रूप से बृजवास के लिए आ गए। वृन्दावन में वह स्थान की तलाश में ही थे कि सौभाग्य से सिंधी कालोनी में ललता माताजी के घर को खरीदने से पू.संतोष बहिनजी के दर्शनों का सुअवसर मिल गया। अमीचंद जी की पू. बहिनजी के प्रति अत्यधिक श्रद्धा रही। ये चाहते थे पू॰ संतोष बहिनजी व सरलाजी इसी घर में रहें, पर इनका अपने राधामाधव के लिए सुन्दर मन्दिर बनाने की चाह थी और पू.बहिनजी के लिए भी आवश्यक सुविधाएँ जुटा उनकी सेवा करने की भावना थी। इसके लिए वह मकान को तुड़वा फिर से बनवाना चाहते थे। इसीलिए संतोष बहिनजी सरलाजी को लेकर कुछ अवधि के लिए बड़ी कुंज, कामदा बहिन के कमरे में आ गईं।

बड़ी कुंज वास–

यमुना पुलिन के एकदम समीप का ये स्थान वास्तव में सिद्धस्थली ही है। उस कक्ष के एकदम पीछे दीवार से सटा, धीर समीर का संकीर्तनमय वातावरण, थोड़ी ही दूर वंशीवट और बाईं ओर श्रीनिवासाचार्य प्रभु का समाधिस्थल.......ऐसे रसमय वातावरण में पू. बहिनजी और ही भाव में डूबी रहतीं। सुश्री दर्शन, उमा, विमला कपूर, संतोष गुप्ता व मलका इन बहनों के तो सौभाग्य की सीमा न रही। उनके साथ-साथ विशेशर भाई और निर्मला भाभी को भी सेवा का

खूब मौका मिला। उनकी सन्निधि का इन सबने खूब लाभ उठाया। पू॰ ऊषाजी भी अपनी इन श्रद्धेया से मिलने अक्सर आती ही थी। पू. ऊषाजी की इनके प्रति असीम श्रद्धा रही है। उस श्रद्धा का एक स्वरूप इस तथ्य से प्रकट होता है कि इनके परिकर में जिन बहनों का नाम संतोष है, पू॰ ऊषाजी ने उन्हें कभी नाम लेकर नहीं पुकारा, वे उन्हें सरनेम से ही बुलाती थी। उन सबके 'नारंग', 'महाजन' या 'चौधरी' नाम ही प्रचलन में रहे। अस्तु, यहां बड़ी कुंज में रह रही बहनें पू.संतोष बहिनजी की पूरी सुविधा का ध्यान रखतीं। पर सेवा लेने का तो इनका स्वभाव ही नहीं था। उन सब बहिनों को इनका सत्संग, सामीप्य, पथ निर्देश अवश्य मिला। सबसे सुखद रहा कार्तिक मास का व्रत, पूजन, शालिग्राम जी की परिक्रमा व तुलसीजी की आरती से संध्या वंदन। इस समय आनंद की वृष्टि से सभी बहनें सराबोर हो जातीं। कार्तिक मास की महिमा बताते हुए पू.संतोष बहिनजी कहती थीं– ''कार्तिक व्रत से वृन्दावन प्राप्ति होती है। योग्यता नहीं होने से श्रीहरि किसी को भक्तिदान नहीं देते किंतु ब्रज में कार्तिक व्रत करने से योग्यता न होने पर भी सहज प्रेम लाभ होता है।'' अस्तु॥

पुनः अमीचंद जी के घर–

अब अमीचंद जी का घर बनकर तैयार हो गया था। लगभग एक वर्ष बड़ी कुंज में रह संतोष बहिनजी फिर सिंधी कालोनी अमीचंद जी के घर आ गई। अमीचंदजी की खुशी का ठिकाना न था। कौन ऐसे संतों की पग धूलि से वंचित होना चाहेगा। पू.बहिनजी अब लगभग ७० वर्ष की हो गई थीं। इस आयु में कुछ आवश्यक सुविधाएं प्रदान कर अमीचंद जी ने वास्तव में बहुत ही प्रशंसनीय कार्य किया। सच ही सरलाजी की सेवा में अब काफी सुगमता हो गई थी पर वास्तव में पू.

बहिनजी को इस सब की अपेक्षा नहीं थीं। वह तो अपनी मस्ती में दिन रात पगी रहती थीं। उन्हें किसी भी कष्ट का अहसास ही नहीं होता था। इन्होंने बहुत ही कर्मठ जीवन बिताया। कभी एक क्षण भी व्यर्थ व्यतीत करते किसी ने इन्हें नहीं देखा, न व्यर्थ चर्चा करते ही सुना। प्रायः ही वो सिर झुकाए घुटनों पर किताब टिकाए कुछ पढ़ने में ही मग्न दिखतीं। कोई मिलने आ जाए तो उतनी ही त्वरा से वे सब उन्हें सुनातीं भी। उन्हीं के मुख से सुने कुछ अनमोल वचन स्मृति पटल से झांक रहे हैं–

* दीन के घर से दीन बन्धु को परिचित होना ही चाहिए।
* हे प्रभो, मैं मांगू या न मांगू, मुझे ऐसी कोई चीज कभी न देना जो मुझे अच्छी लगने पर भी तुझसे दूर ले जाने वाली हो।
* सृष्टि के संचालक पर से दृष्टि मत हटने दो, महाप्रलय भी तुम्हारी शांति को कंपित करने में असमर्थ रहेगी।
* नदी नाले थोड़े से जल से इतरा उठते हैं, पर सागर जिसमें अनंत जल भरा है, गंभीर रहता है।
* मर के जहं जाना अहै जू बलि,
तहां जीवत ही क्यों नहि जाइए जू।
* गवन समय आंचल गह्यो, छाडन कह्यो सुजान।
प्राण पियारे प्रथमहि आंचल तजूं कि प्राण॥
* आत्म प्रशंसा और पर निंदा दोनों ही त्याज्य है।
* जाति नहीं जगदीश की जन की कहां ते होय
सांभर में जो कोई परै सोई सांभर होय।
* भगवान के सिवाय कोई दूसरा सहारा न हो, प्यारा न हो, गति न हो तो वह भगवान को प्यारा लगता है।

* हे प्रभु! यदि मैं नरक के डर से तेरी पूजा करती होऊं तो मुझे उस नरक की आग में जला डाल और यदि स्वर्ग के लोभ से तेरी सेवा करती होऊं तो वह स्वर्ग का द्वार मेरे लिए बंद कर दे; किन्तु यदि मैं तेरी प्राप्ति के लिए ही तेरा पूजन करती होऊं तो तू अपने अपार सुन्दर स्वरूप से मुझे वंचित न रख। (रबिया)
* तुम किसी मनुष्य से किसी वस्तु की इच्छा न करो और तुम्हारे पास से किसी वस्तु की कोई इच्छा करे, ऐसी वस्तु को कभी अपने पास न रहने दो।
* संसार की प्रीति के पात्र बनना अधोगति है। ऐसा काम करो कि प्रभु की प्रीति के पात्र बनो।

दीन दुखियों के प्रति पू.बहिनजी की उमड़न देखते ही बनती थी। कहती भी थी– श्रीमदभागवत में श्रीभगवान ने कहा है "अनाथ प्राणी मेरा शरीर है। ऐसों की सेवा प्रभु जी की सेवा है।" सीरिया देश के संत खलील जिब्रान की उक्ति वो अक्सर सभी को सुनाती थी– "मेरे मित्रो! जो सिक्का आवश्यकता से पीड़ित व्यक्ति की सेवा में देते हो वह सिक्का सिक्का नहीं रह जाता। भगवान के हृदय से तुम्हारे हृदय को जोड़ने की स्वर्ण श्रृंखला बन जाता है।"

"नरवर सरवर संतजन, चौथे बरसै मेह
परमारथ के कारने चारों धारे देह"

पू.संतोष बहिनजी ने भी इसीलिए देह धारण किया था। दीनों के कष्ट निवारण हेतु स्वयं तो जो कुछ कर सकती थी करती ही थीं, औरों को भी सेवा की प्रेरणा देती थी। कभी-कभी मांग मांग कर भी दूसरों की सेवा करतीं। उनके इस स्वरूप की झलक दर्शाता है ये पत्र। नारंग बहिन के भाई अविनाश जी को किसी की सहायतार्थ पैसे भेजने का आग्रह करते उनकी हस्तलिपिक पत्र का कुछ अंश–

"पत्र हस्तलिपि" –

जैश्री राधेश्याम

अतिपूज्य प्रिय भईया श्रीअविनाश जी बारंबार शुभ आशीर्वाद- प्रभु जी आप सभी को परम सुख प्रदान करें- निरोग रखें- अपने चरणों का प्यार दें- यही प्रार्थना है प्यारे भईयाजी- मैंने अति जरूरतमंदों के लिए थोड़ी-थोड़ी भिक्षा जो बहिनें दे सकती हैं उन से हर मास के लिए मांगी है- आप उस अति जरूरतमंद के लिए १०० रु० हर मास कृपया भेज दिया करें। हर मास मुश्किल लगे तो एक साथ साल भर के भेज देना किराये के पैसे चार बहिनें मिलकर दे रही है मां बूढ़ी सांस के रोग से पड़ गई हैं- बेटी को मिरगी के दौरे पड़ रहे हैं- दवाईयां बहुत महंगी आ रही हे- खाने को कुछ भी नहीं है। कल कई बहिनों ने थोड़े से पैसे दवा के लिए दिये थे- इस जैसी जरूरतमंद ढूढ़ने से भी नहीं मिलेगी। बहुजी को शुभ आशीर्वाद।

सस्नेह आपकी बहिन संतोष।

ममतामयी बहिनजी सबकी बहुत ही अपनी थी। आध्यात्मिक शंकाओं के साथ-साथ सबके लौकिक दुख क्लेशों को भी बहुत ही सहानुभूति से सुनती थीं। उनके दुःख निवारण हेतु उपाय भी बताती। वस्तुतः उनके बता देने मात्र से ही सब निश्चिन्त हो जाते थे और उनका आश्वासन दे देना ही संतोषप्रदायी हो जाता था। उनके बताए हुए दोहे तो सिद्ध है हीं पर इनके मुख से प्रदत्त होने से फल तत्काल ही सुनिश्चित हो जाता था। और सुखद आश्चर्य कि हमारी विपत्ति में वे स्वयं भी ठाकुर से प्रार्थना करतीं। उनके इस अपनत्व की परिधि में लगभग समग्र विश्व ही था। जिसको भी व्यथित कष्टमय स्थिति में देखती उसके लिए दिन रात प्रार्थना की झड़ी लगा देती। विविध कष्टों में उनके बताए कुछ दोहे और उपाय- नौकरी न लगने पर-

"विश्व भरन पोषन कर जोई, ताकर नाम भरत अस होई"

देह की रुग्णता के लिए व त्रिविध तापों के लिए–

"दैहिक दैविक भौतिक तापा, राम राज काहू न व्यापा"

मन में कोई संशय या सन्देह की स्थिति में–

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढ चेताः
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।। – गीताजी २/७

संकट की स्थिति में–

"दीनदयाल विरद संभारी, हरहु नाथ मम संकट भारी।"

दारिद्रय नाश के लिए–

"ॐ नन्दादि गोकुला त्राता दाता दारिद्र भंजना सर्वमंगल दाता
च सर्वकाम प्रदायकः"

कुछ खो जाने पर–

"गई बहोर गरीब निवाजू, सरल सबल साहिब रघुराजू"

भगवान राम के साक्षात् दर्शन के लिए–

नील सरोरुह नीलमणि नील नीरधर श्याम।
लाजहिं ता शोभा निरखि कोटि कोटि सत काम।। अस्तु!

पूर्वाभास –

भविष्य द्रष्टा की सी सिद्ध दृष्टि इनमें अक्सर ही देखने को मिलती थी, जिसे ये छुपाने का प्रयास तो करती, पर बहुत ही आत्मीय रहे कुछ जनों के संबंध में इनकी अनुभूतियां छलक ही जातीं।

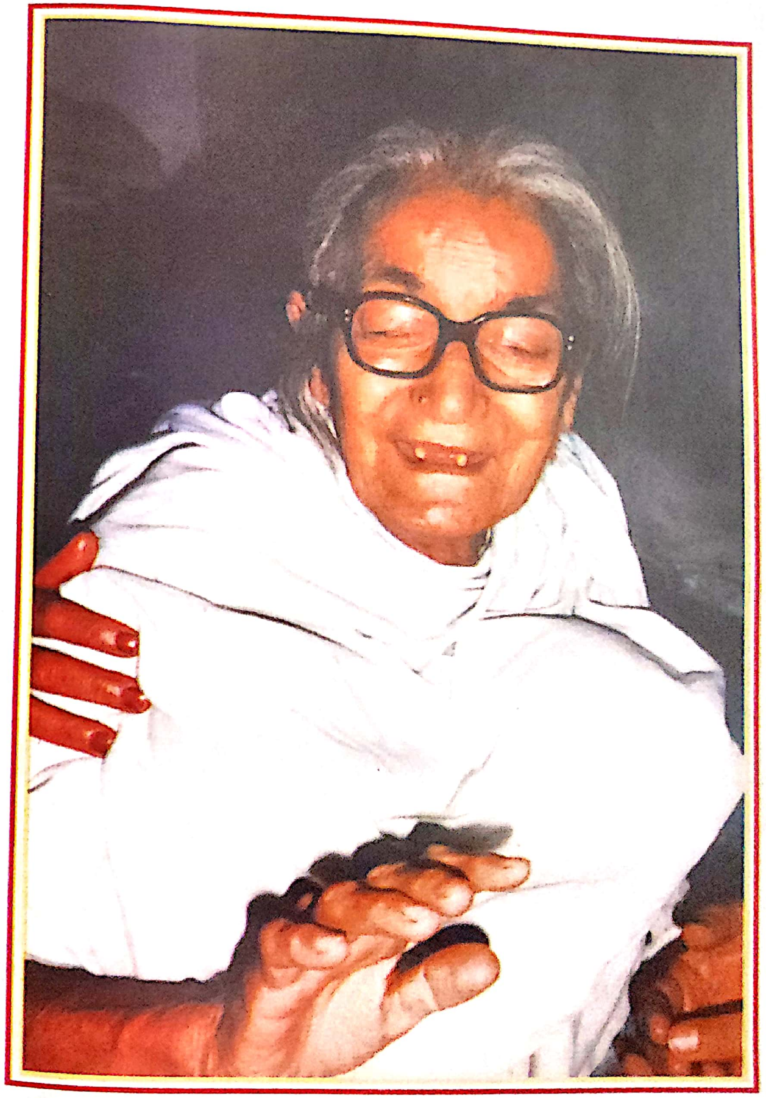
पू॰ऊषाजी पू.संतोष बहिनजी की अन्तरंग सखी थीं जिन पर उन्होंने अमित लाड़ प्यार उड़ेला था, सो उनके लीला-संवरण जैसी घटना का इनके मानस पटल पर लहरान्वित हो जाना कुछ आश्चर्य नहीं है। १४ फरवरी १९९२ की बात है। पूज्या ऊषाजी रासमंडल में अति अस्वस्थ अवस्था में थीं, पर उस रुग्ण अवस्था से वो उबर नहीं पाएगीं, ऐसी किसी परिजन ने कल्पना भी नहीं की थी। पू॰ ऊषाजी की प्रतिदिन की स्वास्थ्य संबंधी स्थिति से पू॰ बहिनजी को अवगत करा दिया जाता था। उस दिन भी संदेशा मिला "पू॰ बोबो (पू॰ऊषाजी) ठीक हो रही हैं।" ये जान पू.संतोष बहिनजी निश्चिंत होकर पाक घर में जा खाना बनाने लगी। भोजन बनाते बनाते ही उन्होंने देखा– "सामने एक सघन मनोहर श्यामोज्ज्वल पुंज है, उसमें ऊषाजी ऊपर को उठती चली जा रही हैं।" इस तरह अनंत आकाश में ऊषाजी को लीन हो अदृश्य सा होते देख वे स्तब्ध रह गई। विचलित हो सरलाजी से कहने लगीं– "सरला, ये सब कह रहे हैं, ऊषाजी ठीक हो रही हैं पर मैं तो उन्हें ऊपर जाते देख रही हूँ। सरला! वो जा रही हैं, मेरे सामने सामने जा रही हैं।" इतना कह वह व्याकुल हो उठीं। सरला जी भी व्यथित हो, बस इतना कह सकी– "आप गलत थोड़े ही देखोगी," पू.संतोष बहिनजी का ये अंदेशा भ्रम नहीं था। सच ही उनकी सखी ऊषाजी, हम सबकी पू॰ बोबो जी २० फरवरी को हमें छोड़ प्रियतम श्यामसुन्दर का हाथ थामें लीला धाम में प्रविष्ट हो गईं।

उसके बाद तो जाने वालों का तांता सा ही लग गया। २६ सितम्बर १९९२ को गोरखपुर से पू.मैय्या, हनुमान प्रसाद पौद्दार जी की पत्नी के लीला धाम प्रवेश का समाचार भी आ गया। इस समाचार ने उनके चित्त में खलबली सी मचा दी। उनके गुरु राधा बाबा ने भाईजी के जाने के बाद पू॰ मैय्या की देखभाल के लिए ही, इतने दिन

इहलौकिक देह को धारण किये रखा था। पू॰मैय्या के जाने से पू॰ बहिनजी का हतप्रभ सा मन किसी और भी आशंका से घबराने लगा। शरद पूर्णिमा के ठीक एक दिन पहले १३ अक्टूबर ९२ पू॰संतोष बहिनजी को कक्ष में प्रविष्ट होते ही अपनी पूजा की चौकी पर एक दिव्य नीला प्रकाश पुंज दिखाई दिया। ये अनायास चिल्ला उठी-"सरला, बाबा गए.... राधा बाबा चले गए... निश्चय ही बाबा चले गए हैं।" कैसी विह्वल वाणी थी उस समय... कैसा अनूठा तार था ये गुरु शिष्य के मध्य। गोरखपुर में हो रहे पू॰राधा बाबा के महाप्रयाण को इन्होंने वृन्दावन बैठे-बैठे ही अनुभूव कर लिया था। और सच ही थोड़ी देर बाद वेणु विनोद कुंज से पू॰राधा बाबा के महाप्रयाण का, लीला संवरण का समाचार आ पहुंचा। व्यथित क्षुब्ध मन लिए वो स्तब्ध सी बैठी थी। संयोग से तभी मैं उन्हें प्रणाम करने पहुंच गई। पू॰बहिनजी सजल नेत्रों से, भरे कंठ से बोली- "मुनिया, संतों की हाट अब उठती सी दिखती है। सभी संतों ने अब अपने को समेटना शुरू कर दिया है।" पू॰ गुरु के लीलाधाम प्रवेश के बाद काफी दिन ये बहुत ही व्यथित सी रहीं। भाव विह्वल पू॰बहिनजी ने अपनी उसी दशा में गोरखपुर गीता वाटिका पत्र लिखा– ये पत्र उनके अपने पू॰ गुरु के प्रति, अगाध श्रद्धाजनित अनुराग को दर्शा रहा है। पू.संतोष बहिनजी ने लिखा–

"जै जै श्री गोरखपुर
जै जै श्री गीतावाटिका"

हे गोरखपुर! तू धन्य है, हे गीतावाटिका तू धन्याति धन्य है। एक सूर्य उदय होकर विश्व को प्रकाशित कर देता है,एक चन्द्र उदय होकर विश्व को शीतलता प्रदान कर देता है। किन्तु गोरखपुर तेरे यहां दोनों ही सूर्य और चन्द्र उदय हुए एक साथ ही। वे सूर्य और चन्द्र तो देवता है और किसी के यन्त्र हैं, पर ये सूर्य और चन्द्र किसी के यंत्र



भाव निमग्ना संतोषजी

नहीं। उन सूर्य और चन्द्र के जो यंत्री है, वे ही गोरखपुर के सूर्य चन्द्र के यंत्र हैं। ये दोनों श्रीराधामाधव नाम के श्रीविग्रह हैं।

गीता वाटिका, तेरे कण कण में, लता पता में, दर दीवार में जड़ चेतन में श्री राधा माधव नाम प्लावित है। गीता वाटिका तू इस नाम रस से सींची गई है। जो इस स्नेह से लालित पालित बसता रहेगा। वह रस कहीं नहीं जा सकता। इन पुष्पों को सदा सर्वदा सराबोर किए रहेगा। गुप्त लीलाओं का रस झरना है यह। गीता वाटिका, कोई क्या कहे तेरे भाग्य को।

गीता वाटिका के परम स्नेह से लालित पालित हे पुष्पों, वह रस झरना सदा सर्वदा अपने रस से सींचता आया है, सींचता रहेगा। गीता वाटिका तुझे, तेरे कण कण को शत् शत् कोटि प्रणाम।

(वाटिका वातायन से साभार)

अहा! पत्र का एक एक शब्द उनकी पू.राधाबाबा व भाई जी के प्रति अगाध श्रद्धा की झलक तो देता ही है, गीता वाटिका गोरखपुर की पावनभूमि को श्रीधाम की सी मान्यता सा देता सबके लिए प्रणम्य करता है। पू॰ राधा बाबा के तिरोभाव से शोक संतप्त परिजनों के लिये कितना सुशीतलता आश्वासनभरा पत्र है ये। इनकी सरस आर्द्र अभिव्यक्ति पर मन मुग्ध सा हो जाता है। अस्तु

साधिकोचित उपदेश झलक –

पू॰राधा बाबा ने १३ अक्टूबर १९९२ को लीला संवरण किया था। उनके जाने के बाद शोक संतप्त गीता वाटिका के इन पुष्पों को महाराजश्री का सबल आश्रय और भी सुलभ हो गया। पू॰राधा बाबा की स्मृति सतत् बनाए रखने के लिए किसी स्मृतिचिह्न की प्रतिष्ठा करने को सभी लालायित थे, पर अनिश्चितता और असमंजस की स्थिति से उबर नहीं पा रहे थे। किसी का परामर्श राधा बाबा की

अनुष्ठानआराध्या त्रिपुरसुन्दरी की स्थापना का था, तो कोई अन्य प्रकार का आग्रह कर रहा था। सभी की श्रद्धा भावना अतुलनीय थी। पू॰महाराजश्री के पू॰राधाबाबा के श्रीविग्रह स्थापित किए जाने के सुविचार को सभी ने अनुमोदन कर दिया। वैसे भी पू॰महाराजश्री का वाक्य उनके लिए ब्रह्मवाक्य सा ही था। सबकी भावनाओं को समादर सा देते महाराजश्री के इस निश्चय का पता चलने पर पू.संतोष बहिनजी आह्लाद से भर उठीं। पू.महाराजश्री का स्वास्थ्य ठीक नहीं था पर फिर भी अपनी अदम्य संकल्पशक्ति से उस उत्सवायोजन में शामिल होने के लिए ठाकुर घनश्याम, कुसुमजी व और कुछ लोगों के साथ गोरखपुर पहुंच गए। पू.संतोष बहिनजी को राधा बाबा के श्रीविग्रह के प्राण प्रतिष्ठा की पूरी जानकारी थी। हर्षमग्ना पू.बहिन वृन्दावन होते हुए भी गोरखपुर में हो रहे उस उत्सव में मानों शामिल थीं। उनके मन की निमग्नता में, हर क्रियाकलाप में उस दिन पू.राधा बाबा के प्रति उनकी अनन्य निष्ठा झलक रही थी। वहां हो रहे अनावरण समारोह, घण्टा घड़ियाल की मधुर ध्वनि, संकीर्तनमय वातावरण और आरती के समय का भावप्रद वातावरण पू.बहिनजी आंखे मूंदे ही देख रही थी। घंटों वे उसी तन्मय अवस्था में उसी अमृत छलकन में डूबी रहीं, उमंगित रहीं, तरंगित रहीं। अस्तु!

साधिका शैवालिनी –

कुछ दिन बाद शैवालिनी गोरखपुर से श्रीधाम वास के लिए वृन्दावन आ गई। ये पू॰भाईजी की सुपुत्री सावित्री बाई की बड़ी पौत्री हैं। भक्तिमय वातावरण में लालित पालित शैवालिनी को वृन्दावन में पू.संतोष बहिन जी का स्नेहिल सामीप्य ही नहीं मिला, कालान्तर में उनकी सेवा सुषुश्रा का परम सौभाग्य भी मिला। एक दिन पू.बहिन जी

शैवालिनी को साथ लेकर किसी कार्यवश बैंक गई। वहां पहुंचकर पता चला कि बिना राशनकार्ड के उनका वह कार्य होना संभव नहीं है। शैवालिनी ने पू.बहिनजी को वही बैंक में बिठाया, चाबी लेकर घर गई और उसी रिक्शा में राशनकार्ड लेकर वापस बैंक चली आई। वहां राशनकार्ड खोलकर देखा तो उसमें पू.संतोष बहिनजी का परिचय प्रमाण देख शैवालिनी स्तब्ध रह गई। पू.बहिनजी का परिचय लिखा था– ''संतोष जी, सुपुत्री राधा बाबा।'' सुखद विस्मय में डूबी शैवालिनी राधा बाबा की इन सुपुत्री को मंत्रमुग्ध सी देख रही थी। बाबा के लिखे पत्रों में तो वे उनकी बेटी के रूप में परिचित थीं ही, ये भी उन्हें बाबा ही कहती थीं पर इस प्रमाणपत्र ने तो उनकी राधा बाबा के प्रति अटल निष्ठा की मोहर सी लगा दी थी। शैवालिनी सोच में डूब गई....आहा। तो ये है इनका परिचय! ये राधा बाबा की हैं तो मेरे लिए और भी प्रणम्य हुईं। उस दिन से पू.बहिनजी के प्रति उसका आकर्षण और और बढ़ गया। दोनों के मध्य का ये सूत्र इतना सुदृढ़ और अपनत्व भरा था कि पू. संतोष बहनजी अक्सर उसके लाड़भरे सभी आग्रह, दुराग्रह सहज ही मान लेती थीं। इस भाग्यवान को उनसे बहुत ही प्यार मिला। यहां तक कि एक बार शैवालिनी के नाराज हो जाने पर उसे मनाने वे, अपनी अस्वस्थ अवस्था में भी, रिक्शा कर उसके घर गईं। लाड़ में उसके बातचीत बंद कर देने पर, मान दिखाने पर पू.बहिनजी उसकी ऐसी मनुहार करती देखी गईं मानो उसके बिना इनका गुजर ही नहीं। तत्वतः ये सब सम्मान देने के पीछे ''अमानी मानदेय रूपा'' पू. बहिनजी को शैवालिनी का राधा बाबा से संबंधित स्वरूप में स्वीकार करना था, उसका पू.भाईजी की वंशजा होने से सम्माननीय मानना था। ये भी सच है कि पू.बहिनजी की गरिमा से परिचित कोई अन्य व्यक्ति उनसे ऐसा व्यवहार स्वप्न में भी नहीं सोच सकता था। सबकी श्रद्धेया

थी वो, प्रणम्य थी सबकी। इस तथ्य से शैवालिनी भी सुपरिचित ही थी, तभी तो तन मन प्राण से उनकी सेवा में जुट गई थीं। अस्तु!

प्रियजन वियोग –

कालचक्र अपनी स्वाभाविक गति से चल रहा था। पू.महाराजश्री अब काफी अस्वस्थ से रहने लगे थे। ये देह रुग्णता कम, चिन्मय धाम की संलग्नता ही अधिक थी। पू.संतोष बहिनजी को उनके प्रियतम से महा मिलन की त्वरा का आभास होने लगा था। उनकी ये आशंका २४ मई १९९५ को सत्य में परिवर्तित हो गई। वेणु विनोद कुंज को शून्य सा करते पू. महाराजश्री प्रिया प्रियतम के नित्यधाम की किसी कुंज में जा छिपे। इस सूचना को सुनते ही पू॰ बहिनजी के मुख से निकल पड़ा- "आह, वृन्दावन के विभूषण चले गए।" बहुत दिन तक ये अपने इन श्रद्धेय, विनोदप्रिय पू॰ महाराजश्री के निकुंज गमन पर व्यथित रहीं। उनके संग हुई मधुर चर्चा, सरस स्मृतियों ने इन्हें सजल नैन किए रखा। पू.बहिनजी अपने संगी साथियों की इहलोक से विदाई और प्रियतम के संग चिरमिलन को धैर्य से सहन कर रही थीं।

अब संभवतः अपनी प्रिय सखी, बहुत ही आत्मीया, लगभग ५० वर्ष से साथ रह रही सरलाजी के वियोग को सहने का समय भी आ गया था। सन् १९९६ की जन्माष्टमी से ही सरला जी काफी अस्वस्थ रहने लगी थी। उनकी बीमारी डाक्टरों की समझ में नहीं आ रही थी। देखने में स्वस्थ सी लगती थीं पर उनसे उठा नहीं जाता था। पू.बहिनजी को कुछ कुछ अहसास होने लगा था शायद अपनी लाड़ली सरला के संग इहलोक का सान्निध्य समय पूर्ण हो चुका है। वैसे तो अपनी इन दृष्टिहीन लाड़ली सखी की वे पिछले ५० वर्षों से ही ममत्वभरी देखभाल करती आ रही थीं, पर रुग्णता की दस माह की अवधि में तो उनकी तन मन प्राण पगी सेवा जगत के लिए एक वे

उत्कृष्ट आदर्श है। वे उनकी हर छोटी से छोटी आवश्यकता का ध्यान रखतीं। उचित से उचित दवाई का तो प्रबंध किया ही, समयोचित खाने का, वस्त्रों का व स्वच्छता का भी पूर्ण ध्यान रखा। मलिन अवस्था में भी अपने हाथों से ही निःसंकोच, बिना किसी ग्लानि के ये बहुत ही प्रीति से उनकी सेवा कर रही थीं। इनके लिए तो हर कार्य भगवद् पूजन जैसा ही होता था। शरीर से भारी सरलाजी को स्वयं अंक में ले इधर उधर लेकर जाती। इतनी प्राण पगी सेवा करने पर भी इन्हें अपने कार्यों में त्रुटियां ही नजर आती। ऐसी निरहंकारिता देखने में बहुत ही दुर्लभ है।

१ अप्रैल १९९७ को, १० मास की रुग्ण अवस्था की लम्बी अवधि के पश्चात्, सरलाजी भी नित्य धाम पधार गईं। पू. संतोष बहिनजी की उस शोक संतप्त अवस्था की समीक्षा कर पाना हम जैसे नगण्य जीवों के लिए संभव नहीं है। वे प्रकट में दुखी दीखतीं पर वास्तव में दुःख रहित थीं, ममता से ओतप्रोत दीखती, पर मोह से निर्लिप्त थीं। उद्वेगयुक्त संतापयुत दिखने पर भी अपने उर अन्तर के उसी रसमय साम्राज्य में डूबी हुई थीं। इसीलिए पिछले ५० वर्षों से साथ रह रहीं सरलाजी के वियोगजनित जिस विकलता की आशंका सबको थी, वैसा कुछ भी दृष्टिगोचर न हुआ। जितना पू.बहिनजी का सेवा भाव अनिर्वचनीय और अनुकरणीय रहा, उतना ही सरलाजी के नित्यधाम पधारने पर इनका अनासक्त भाव। सरलाजी के पधारने के पश्चात् इन्होंने पू.मनोहरदास बाबा को बुलाया। पू. बहिन जी के बैंक में सरलाजी के ८०,००० रुपए जमा थे। वह यह सोचकर रखे थे कि अगर पू. बहिनजी पधार जाएं तो सरलाजी को कोई परेशानी न हो। परन्तु भगवान का विधान कुछ अलग ही था। सरलाजी पहले ही पधार गई व पू. बहिनजी को उनका संस्कार खुद करना पड़ा। बहुत ही विधि

विधान से उन्होंने सरलाजी का क्रियाकर्म किया। पू. बाबा के हाथ से एक लिस्ट बनवाई, जिसमें कुछ गरीबों जरूरतमंदों के नाम लिखवाए व उनकी आवश्यकता अनुरूप सबको रुपए बंटवा दिए। एक ही दिन में उन ८०,००० रुपयों को इस तरह साधुसेवा में वितरित करवा दिया। सरलाजी के वस्त्र विशेष भी बांट दिए। अपने लिए एक दो प्रसादी रूप में वस्त्र रखे और जब तक वह फट नहीं गए उन्हें ही बड़ी श्रद्धा से धारण किए रहतीं। सरलाजी के जाने के बाद इनकी दिनचर्या में अन्तर आ जाना स्वाभाविक ही था पर कुछ विशेष अन्तर आया नहीं। मात्र इतना हुआ कि अब वे विभिन्न ग्रन्थावलोकन में और भी मग्न रहने लगीं। सबके बहुत आग्रह करने पर भी ये किसी और व्यक्ति को अपने साथ रखने को सहमत नहीं हुईं।

"ब्रज चौरासी यात्रा-नियम-निषेध"–

वैष्णव समाज की मुकुट शिरोमणि पू.संतोष बहिनजी सभी भक्तजनों की श्रद्धेया थीं, सभी साधकों की प्रणम्या थीं। सभी इन्हें प्रणाम करने आते थे। अपरिपक्व साधकों की तो ममतामयी पथ-प्रदर्शिका ही थीं, विशेषतः साधिकाओं का तो वो आधार स्तम्भ थीं, जिनके पास वे अपनी आध्यात्मिक शंकाओं, समस्याओं को निस्संकोच बता समाधान पा जातीं। वृन्दाबन उपासना के इस प्रेममय साम्राज्य में मर्यादित और अनुशासित जीवनशैली की आदर्श पू॰बहिनजी ही इन सब की गतिमति थीं। उत्सवों व विशेष पर्वों पर तो सब इन्हें प्रणाम कर धन्य होते ही थे, कुछ निजी विशेष आयोजनों पर भी उनका मंगलमय आशीर्वाद लेकर ही कार्य प्रारंभ करते।

नवम्बर १९९४ में मेरा "ब्रज-चौरासी-परिक्रमा" का प्रोग्राम बना। यात्रा में जाने से पहले मैं भी उन्हें प्रणाम करने गई। उस दिन पू. बहिनजी के आशीर्वाद के साथ-साथ यात्रा के 'नियम और निषेधों' की

बहुत ही लाभप्रद जानकारी मिली। उनके ये वचन मुझे पूरी यात्रा के समय सरस उमंग से भरते रहे।

यात्रा के नियमों को समझाती पू॰बहिनजी बोलीं– "मुनिया, ब्रज-चौरासी की यात्रा का सौभाग्य बहुत ही मुश्किल से मिलता है। ऐसा संयोग अगर मिल रहा है तो निश्चय ही भाग्यवान है तू। देख, यात्रा में हमेशा ध्वजा के पीछे ही चलना। ध्वजा पर कपिराज हनुमानजी बैठे सब विघ्नों को, यातनाओं को दूर करते जाते हैं और यात्रा सुगम हो जाती है। उन्हें पार कर उनके आगे-आगे चलने पर तुम उस रक्षाकवच की परिधि से बाहर हो जाते हो। सभी संतों को,बड़ों को,तेरे से तो सभी बड़े ही होंगे, हमेशा अपनी दाहिनी ओर करके चलना। सबसे पीछे चलना, ताकि उनकी चरणधूलि तुम्हारी देह पर पड़ती रहे। मानव देह इससे पावन हो जाती है। वैसे ब्रज- चौरासी की इस यात्रा में तुम्हारे साथ सिर्फ देहधारी ही नहीं चलते। बहुत से संत सूक्ष्म शरीर से अलौकिक देह में संग-संग चलते हैं। देवी देवता भी चलते हैं। सावधानी रखोगी, सजग रहोगी तो खूब सारे अहसास, आभास भी होंगे।

अच्छा, तू मौन रहकर, कर सकेगी ये यात्रा। मौन रहने से उन अलौकिक तरंगों को सहेजना सहज हो जाता है। जीव ग्राह्य स्थिति में रहता है। बोलने में शक्ति का अनावश्यक क्षय होता है, हम जगत को देते हैं, चुप रह कर हम पाते हैं। और ब्रज-चौरासी की परिक्रमा के समय बहुत कुछ प्राप्य होता है, जिसे सावधान साधक ही ग्रहण करने में सक्षम होता है। अगर अन्न परित्याग कर, फलाहार पर रहकर यात्रा कर सके तो बहुत ही अच्छा है। दूध की तो ब्रज में कमी नहीं, हर जगह सहज ही सुलभ हो जाएगा। इससे यात्रा के दौरान सजगता बनी रहेगी। *शरीरकीस्थूलतासूक्ष्मअनुभूतियोंकोग्रहणकरनेमेंबहुत बाधक है। अन्नमय शरीर से प्राणमय शरीर मन के भावों को अधिक सक्षमता से स्थिर करता है, तब अनुभूतियां सहज हो जाती हैं।*

और भी बहुत सारी आवश्यक बातें बताईं। "क्रोध तो यात्रा में बिलकुल न करना। यह सारी उपलब्धियों को पलभर में नष्ट कर देता है और शुष्कता ला देता है। फिर सरसता लाना बहुत मुश्किल होता है। जितनी भी असुविधाएं हों, उन्हें खुद झेलकर सहयात्रियों को सदैव सुख पहुँचाने की कोशिश करना। असमर्थ यात्रियों की जरूरतों पर उनकी सेवा से कभी पीछे न हटना। हर स्थली पर थोड़ी देर बैठ वहां हुई लीला क्रीड़ा का चिंतन करना। उस स्थली पर बैठ उसी लीला का चिंतन करने से मन बहुत ही सरस सुखद रसमय वातावरण में डूब जाता है। यात्रा का इतना कष्ट सहने का लाभ तो तभी है, वर्ना तो शरीर को व्यर्थ ही थकाना मात्र है।" इतना कह ढेरों आशीर्वाद देते हुए एक शीशी मुझे पकड़ाते हुए बोलीं– "हर स्थली पर याद से मेरा भी प्रणाम करना। वहां की रज इकट्ठी करके लाना और इस शीशी में हर कुण्ड पर आचमन करने के बाद वहां का जल इकट्ठा करके लाना। आचमन करने के समय मेरा भी तीर्थों को प्रणाम करना न भूलना।"

अहा! ममतामयी के इन सावधानी भरे वचनों ने निश्चय ही यात्रा आरंभ होने से पहले ही यात्रा के फलस्वरूप होने वाली सरसवृष्टि में मुझे भिगो दिया। यात्रा की निर्विघ्नता तो सुनिश्चित ही थी। ब्रज की सभी स्थलियां लम्बी अवधि तक मेरे चिन्तन में बनी रहीं। आज भी वे स्मृतियां मुझ में उतनी ही पुलकन भर जाती हैं।

अनन्य प्रसाद निष्ठा–

पू. संतोष बहिनजी की वाणी से ही नहीं, उनके हर क्रियाकलाप से दैनिक व्यवहार से साधक के समक्ष एक आदर्श ही प्रस्तुत होता था। उनकी प्रसाद में अनन्य निष्ठा थी। कितनी ही देर वह प्रसाद को हाथ में लिए स्तुति वंदन करतीं, फिर उसे बड़ी ही श्रद्धा से मुख में डालती। कहती थीं कि प्रसाद का कण मात्र भी पूरे शरीर को पावन करने की

क्षमता रखता है, जन्म जन्मांतर के रोगों को विनष्ट करता है और जीव को प्रभु प्रेम के योग्य बनाता है। प्रसाद पाने के बाद उस पात्र को भी वे सहज ही नहीं छोड़ती थीं। उस सकोरे या दोने को आंचल में बांध लेती और प्रतिदिन उसका टुकड़ा मुंह में डाल लेती थीं। ऐसी अतुलनीय निष्ठा भक्त चरित्रों में ही देखने को मिलती है। चरणामृत लेने के समय अपना आँचल हाथ में ले, एक हाथ ऊपर रख ऐसे चरणामृत लेतीं कि एक बूंद नीचे न गिर पड़े। प्रसाद और चरणामृत लेने के समय असावधानी वश किए गए किसी भी अनादर को वे देख ही न सकती थीं।

फरवरी ९८ की बात है। भक्तिमती पू.ऊषाजी की पुण्य तिथि थी। सुबह आठ बजे का समय था। ठाकुरजी को नाश्ते का भोग लग चुका था। सभी लोग जलपान कर ही रहे थे। उसी समय किसी की दृष्टि रिक्शा से उतरती पू. संतोष बहिनजी पर पड़ गई। इतनी असमर्थता होने पर भी उनका अकेले ही रिक्शा में चले आना देख, सभी श्रद्धावनत हो गए। ठाकुरजी के समक्ष बैठे नाश्ता कर रहे सभी व्यक्ति झटपट उठ स्थान खाली करने लगे। उसी भगदड़ में प्रसाद के कुछ कण वहीं बिखर गए थे और किसी का ध्यान उस तरफ नहीं जा सका। ठाकुरजी के समक्ष कोहनी का सहारा ले घुटने टिका, नतमस्तक होती पू. संतोष बहिनजी की दृष्टि उन प्रसाद के कणों पर पड़ गयी। कई बहिनों की भी निगाह वहां पड़े प्रसाद कणों पर पड़ गई पर उन सबकी तत्परता से पहले ही पू.बहिनजी ने वो प्रसाद कण उठा अपने मुख में रख लिये। अपनी असावधानी पर सभी बहनों को ग्लानि होनी ही थी, पू.सुशीला बहिनजी भी बहुत ही आहत हुई। "अरे ये क्या कर रही हैं आप" कहती-कहती उनके हाथों से प्रसादकण लेने का असफल प्रयास भी किया पर पू. बहिनजी ने उस घटना पर बस इतना ही कहा –"किसी का पांव पड़ जाता" सबके संकोच और विषाद

की सीमा न थी, और इधर पू. बहिनजी ठाकुरजी के दर्शनों में तन्मय बैठी थी। अस्तु

अपनी इतनी अस्वस्थता में भी ठाकुरजी के दर्शन करने आने का ये प्रसंग नवसाधकों के देवदर्शन में किसी भी प्रमाद को स्थान न देने का प्रत्यक्ष उदाहरण था। प्रसाद की महिमा झलकाता एक और बहुत सुन्दर प्रसंग है। जनवरी २००१ की बात है। घोर शीत के प्रकोप से उनकी पांव की अंगुलियों में घाव हो गए थे। वे खुद ही बैठी उन पर मरहम पट्टी कर रही थीं। सुलोचना बाई भी पास ही बैठी थी। वृन्दाबन वास कर रही सुलोचना बाई बेगुसराय बिहार की हैं, और रुक्मणी बाई की शिष्या हैं। नर्मदा बाई की ये भतीजी वृन्दाबन में रह नियम से पू. संतोष बहिनजी को प्रणाम करने आती और घंटों बैठी इनके मुख से हरि चर्चा सुनती रहतीं। अस्तु, पू॰बहिनजी पांवों पर पट्टी खुद ही कर रही थीं। इतने में एक और साधिका भी आ गई। हरिचर्चा चलती रही। थोड़ी देर बाद उसकी जाने की उत्सुकता देख और अपने हाथ गंदे होने की वजह से बहिनजी ने सुलोचना बाई को उसे प्रसाद देने के लिए कहा। ये नव साधिका सुलोचना बाई से अपरिचित सी थी और संतोष बहिनजी के हाथों से प्रसाद लेने के लोभवश, इसने हाथ आगे नहीं फैलाया। ये देख अन्तर्यामिनी बहिनजी बहुत ही रुष्ट होती हुई, बोलीं– *''अपमानकररहीहोप्रसादकातुम, प्रसाद-प्रसादहोताहै।महिमाप्रसादकीहै,ठाकुरकीहै,नकिदेने वालेकी।इन्हेंप्रणामकरप्रसादलो।''* वह साधिका बहुत ही शर्मिंदा हो गई। सुलोचना बाई को प्रणाम कर क्षमा मांगते हुए प्रसाद को प्रणाम कर तब अपने मुख में डाला। इसी तरह और एकबार किसी परिचित के श्रीठाकुरजी के पाटोत्सव के आयोजन में पू.बहिनजी को कीमती उपहार देने पर कहा था– ''प्रसाद नहीं लाए, प्रसाद का एक कण

सबसे बड़ा उपहार होता।'' अहा, प्रसाद के प्रति उनकी उस त्वरा को शत् शत् वंदन। अस्तु।

विभिन्न रोगाक्रमण –

थोड़े दिन बाद ही होली के दिनों में पूज्या बहिनजी की तबियत अचानक ही बहुत चिंताजनक हो गई। वमन और दस्त की अधिकता से शरीर में पानी की अत्यधिक कमी हो गई। दुबला पतला शरीर काँपने लगा। तत्काल उचित चिकित्सा आरंभ हो गई पर स्थिति संभली नहीं। लखनऊ से प्रिय कृष्णकुमार भी अपनी मासी की सेवार्थ पहुंच गए। डाक्टरों ने जबाब दे दिया था। उन दिनों शैवालिनी ने तन मन प्राण से सेवा की। घर का सारा काम चन्दन कर ही देती थी। और सब बहिनों ने भी यथासंभव सहयोग दिया। जालंधर से पू.संतोष बहिनजी की श्रद्धालु सविताजी भी आ गईं। सबकी अथक सेवा परिश्रम के बावजूद पू.बहिनजी के जीवन की आशा कम होती गई। अन्ततः एक दिन स्थिति ऐसी हो गई कि उन्हें भूमि पर उतारने की तैयारी होने लगी। तभी शैवालिनी ने मथुरा के किसी वैद्य जी के परामर्श से शहद की पूरी शीशी ही इनके मुख में उड़ेल दी। इनके जीवन की आशा वैसे भी सब छोड़ ही चुके थे, पर तभी चमत्कार हो गया। इस उपचार को उनके सजग हो जाने का श्रेय प्राप्त हो गया और धीरे-धीरे स्थिति में सुधार होता गया। इस रुग्ण अवस्था में शैवालिनी पू.संतोष बहिनजी के और अधिक समीप हो गई। अहा, सेवा की प्रतिमूर्ति पू.बहिनजी की सेवा का सौभाग्य क्या किसी साधारण जीव को मिल सकता है। उनका तो स्पर्श अधिकार भी विरलों को ही मिल पाता है। निश्चित ही उनकी अस्वस्थता में उनके गुरु राधा बाबा का ही ये कृपा प्राविधान था। साधिका शैवालिनी का वृन्दाबन में मुख्य साधन संत शिरोमणि पू.बहिनजी का सामीप्य ही बन गया। वे उसका सुदृढ़

आधार थीं। उसकी अथक सेवा का प्रतिफल ही था कि जिन बहिनजी को अंतिम विदाई देने को सब तैयार थे, शैवालिनी की हठधर्मिता की हद तक की गई सेवा ने उनका इस धरा पर अभी कुछ और रहना संभव कर दिया। उससे भी बड़ा सत्य यह है कि मृत्यु में इतना दम नहीं था कि उन्हें स्पर्श भी कर सके। इस संदर्भ में पू.मनोहरदास बाबा का कथन ध्यान में आ जाता है– ''संतोषजी मृत्यु के सिर पर पांव रखकर जाएगी।'' और उसकी प्रत्यक्ष झलक पू. बहिनजी के अंतिम के दिनों में स्पष्ट ही दृष्टिगोचर हुई।

अब आयु अधिक हो जाने से वह अक्सर बीमार ही रहने लगी थीं। विभिन्न रोगों से आक्रांत पू. बहिनजी धैर्य से सभी कष्ट सह रही थीं पर किसी परिचारिका को रखने के सुझाव से सहमत नहीं हो रही थीं। एक मात्र ठाकुर पर निर्भरता तो थी ही, दैन्य की मूर्ति किसी से सेवा लेने का सोच ही नहीं पाती थी। अपनी छोटी मोटी बीमारियों का इलाज ये स्वयं ही कर लेती। यदा कदा अस्पताल जाने की स्थिति में रमन बहन और शैवालिनी सदैव ही प्रस्तुत रहतीं। भगवानदास और विशेशर भाई को भी इन दिनों सेवा का अवसर मिल ही जाता था। पर वास्तव में पू.बहिनजी अपनी इन बीमारियों से सदैव ही निर्लिप्त सी रही। पर दूसरे के दुःख में विगलित होती पू.बहिनजी की परदुःखकातर अवस्था की एकबार फिर अनोखी झलक देखने को मिली।

मार्च २००० की घटना है। भक्तिमती पू.ऊषाजी की प्रिय शिष्या पुष्पाजी परम सन्त थीं। पुष्पाजी ने इसी घर में पू. संतोषजी के साथ वाले कमरे में रहकर इनका बहुत ही अपनत्व भरा स्नेह पाया था। आज रुग्णावस्था में बिस्तर पर लेटी पुष्पाजी शायद इनके अंतिम दर्शन को अकुला रही थी। अन्तर्यामिनी पू. संतोषजी इन्हें देखने तो पहुंच गई पर उनकी कष्टमय स्थिति देख बहुत ही विह्वल हो उठीं। उस दिन

उनके अनूठे परदुःख द्रवण भाव की झांकी मिली। मैं इन्हें प्रणाम् करने पहुंची तो पू.मनोहरदास बाबा भी उसी समय पुष्पाजी को देख वहीं आ गये थे। ये मुझे देखते ही बेचैनी से पूछने लगीं– ''मुनिया, पुष्पा बच तो जाएगी, क्या तकलीफ है उसे'' बाबा समक्ष ही बैठे थे। मैं असमंजस में थी, उन्हें क्या कहूँ, क्या बताऊँ? खुद ही कहने लगीं– ''खून की ही तो कमी है, मेरा खून क्यों नहीं दे देती हो, मेरे खून देने से वो बच जाएगी........''आह, उनकी वो तड़प.....। मेरा हाथ पकड़ कर मनुहार करने लगीं– ''पुष्पाजी को बचा लो। तू जानती नहीं वह क्या है। परम संत है मेरी पुष्पा.....'' अश्रु भरे नैनों से मैं अवनत बैठी थी। उन्हें कैसे समझाती कि पुष्पाजी को बचाना अब संभव नहीं दीखता और उनका खून देना..... कैसी अनहोनी सी बात.... उनकी ७८ वर्ष की आयु, जीर्णशीर्ण काया.... पर वो कितनी ही देर अपना खून देने की रट लगाए रहीं। ऐसा नहीं उन्होंने सिर्फ कहने भर के लिए खून देने की बात कही हो, उनके प्राण उस वक्त पुष्पाजी के लिए तड़प रहे थे। धन्य है, प्रणम्य है उनकी परदुःखकातरता। दूसरों के दुःख में इस तरह दुःखी हो विगलित हो जाना सिर्फ संतों को ही आता है। उसी दिन संध्या को पुष्पाजी नित्यधाम पधार गईं।

स्वस्थ-अस्वस्थ–

उनके अति स्नेह से लालित पालित मेरा मन अक्सर ही उनके दर्शनों और सान्निध्य के लिए ललचा उठता। वे घंटों परमार्थ की बातें बतातीं, अध्यात्म पथ की सूक्ष्म बातें समझातीं। मई २००० की बात है। उन दिनों बहुत लम्बी अवधि के अन्तराल से पू.बहिनजी के यहाँ जाना हुआ। ठाकुरजी को प्रणाम करते ही प्रश्न भरी दृष्टि से देखते हुए बोलीं – ''कहीं गई हुई थी क्या?'' झूठ बोलना संभव नहीं था और ये कहना कि मैं एकान्त वास में नियम पर थी, बहुत ही संकोच में डालने

वाला था। मैं चुपचाप उनके सामने नतमस्तक बैठ गई। पू.बहिनजी ही थोड़ी देर बाद बोलीं– ''अब थोड़े दिन मौन मत रखना'' मैं अचंभित सी उन्हें देखने लगी। शायद मेरे मौन का उन्हें पता था। जरूर किसी बहिन ने उन्हें कह दिया होगा। व्यर्थ चर्चा का विषय बन जाने से मैं खुद को अपराधी समझ बड़ी रूंआसी सी हो गई और संयत रहने का प्रयास करने पर भी अश्रु छलक पड़े। वो द्रवित हो बोलीं– ''कहकर मौन मत रखा कर। देख, मौन रखने और मौन रहने में बहुत अन्तर है। शुरू में मौन रखना पड़ता है पर दिन रात सांस सांस में नाम लेने से मन मौन हो जाता हैं। ये स्थिति अभ्यासगत प्राप्त की जा सकती है। कोई बात करे तो अन्दर से मनन करते करते ही थोड़ी बहुत बात कर लिया कर। मैं आश्चर्य से उन्हें देख रही थी। वे फिर बोलीं– ''एक आधी बात का जबाब पाकर उनकी जिज्ञासा और उभरता महद् भाव वहीं समाप्त हो जाता है।'' मैंने पूछा- ''अगर कोई बात करता ही जाए तो'' आप बोलीं : ''विनय से, निहंकारिता से कह दो मेरी तबियत ठीक नहीं है।'' अब तो मेरी हंसी छूट गई और मैं बोली– ''आप मुझे झूठ बोलना सिखा रही हो'' वे तब भी गंभीर ही रहीं और बोलीं– ''झूठ नहीं सच यही है। जब हम प्रभु को छोड़ मन कहीं और देते हैं, प्रभुचर्चा छोड़ इतर चर्चा में आनन्द पाते हैं तो ''स्व'' में स्थित नहीं होते, तो अस्वस्थ हुए कि नहीं'' उनके इस सारगर्भित तत्व प्रकाश पर मैं मुग्ध हो उठी। मुझे और सावधान करती हुई बोलीं : ''मुनिया, सच तो यह है कि एकान्त, मौन..... लोगों की प्रशंसा.... ये सब किसी व्यक्ति की वास्तविक स्थिति के प्रमाण नहीं हैं। महत्व सिर्फ इस बात का है कि ठाकुर से कितनी समीपता हुई, उनके चिन्तन में कितनी गहरी निमग्नता हुई,उर अन्तर में आह्लाद प्रस्फुटित हुआ या नहीं.... जगत की वाही वाही के आनंद से मन को हमेशा सावधान करती रहना।''

मैं ये सुन गंभीरता से अपने एकांतवास का आंकलन करने को विवश हो गई। अहा, पू. बहिनजी का अपनत्व भरा, आत्मीयता भरा पथ प्रदर्शन..... कर जोड़ उन्हीं से, इस पथ पर उनके अनुरूप चल पाने की सामर्थ्य प्रदान करने की प्रार्थना करती, मैं नतमस्तक हो गई।

"भक्त जीवनी, नाम रुचि" –

उसके कुछ ही दिन बाद की बात है। संयोग से मैं सुबह के समय पू. बहिनजी के यहाँ पहुँची तो उस समय भी वे किसी पुस्तक को पढ़ने में तल्लीन थीं। मैं काफी देर चुपचाप खड़ी रही। उनकी तन्मयता को भंग करना उचित न लगा। सोचा जब पुस्तक का पृष्ठ बदलेंगी तो मुझ पर दृष्टि पड़ ही जाएगी, पर क्या ही आश्चर्य वे पृष्ठ पर पृष्ठ बदलती गईं। तन्मयता की प्रतिमूर्ति बहिनजी को मेरी उपस्थिति का भान तक नहीं हुआ। वह उस प्रसंग में एकदम डूबी हुई थीं। मैं धैर्य से प्रतीक्षा करती रही..... लगभग बारह मिनट ऐसे ही बीत गए। तभी कोई मार्मिक प्रसंग पढ़कर वे कराह उठीं और ''आह'' कहते कहते उन्होंने मुख ऊपर उठाया। मुझ पर उनकी दृष्टि पड़ भी गयी पर उनके चेहरे पर प्रसंग की करुणा व्याप्त थी। मुझे पास बिठाकर उन्होंने पूरा प्रसंग फिर पढ़कर सुनाया। संत एलिजाबेथ की जीवनी थी। कष्टों भरी जीवनी पढ़ इनका मन अत्यधिक करुण हो गया था। पुस्तक बंदकर एक ओर रखती हुई मुझसे बोली- ''मुनिया, नाम में सहज मन न लगे तो भक्तों के चरित्रों में मन को डूबा दो। भक्त जीवनियां पढ़ने से मन में सरसता आ जाती है फिर नाम सिमरन में भी मन लगने लगता है। उस दिन नाम साधना पर चर्चा करते हुए उन्होंने कहा–

''साधना के पथ में नाम सिमरन सभी सीढ़ियों का आधार है। और सब साधनाओं से ब्रह्मज्ञान तो हो सकता है पर प्रारब्ध का नाश नहीं हो सकता। प्रारब्ध का नाश हुए बिना ठाकुर से प्रेम की ललक

नहीं जागती। एकमात्र केवल नाम से ही प्रारब्ध का नाश संभव है। ऐसी प्रीतिपूर्वक नाम लो कि तन मन प्राण द्रवित हो जाएं। उस स्थिति में नाम और नामी में भेद नहीं रह जाता। वस्तुतः नाम में ही नामी को प्रकाशित करने की सामर्थ्य है।''

फिर बहिनजी ललिताचरण गोस्वामी जी के मुख से सुना दोहा दोहराने लगी–

नाम निरादर जिन करो दिन दूनो दुलराओ।
दोहरी तेहरी ले कुलाटें तब जीय दर्शन पाओ।।

नाम रूचि से बहुत परे की है ये अवस्था। रोम रोम में नाम रम जाने से आह्लाद का प्रस्फुटन.......जैसे बच्चा आनंद से कुलाटें भरता है। निश्चय ही उस स्थिति में ठाकुर दर्शन हो ही रहे होते हैं।

नाम की इतनी महिमा बताने वाली पू.बहिनजी को सदैव भक्त जीवनियां पढ़ते ही देखती हूं। ''ये कब नाम लेती हैं क्या नाम लेती हैं, किस मंत्र का जाप करती हैं'' ये सदैव ही मेरी जिज्ञासा का विषय रहे। उस दिन मैंने विनयपूर्वक पूछ ही लिया- ''बहिनजी आप कौन सा नाम लेती हो।'' वे अपने चिर परिचित दैन्य भाव से मुझे भ्रमित सी करती बोल उठी- ''मैं कहां नाम ले पाती हूं। मेरा नाम में मन नहीं लगता। तू ठाकुर से प्रार्थना कर मेरा नाम में मन लगे। मैं तो जी भर कर कभी नाम ले ही नहीं पाई।'' ऐसा आग्रह वह सभी को करती थी। जो भी उनसे मिलने आता वह यही टेक लगा देती ''ठाकुर से प्रार्थना कर, मेरा नाम में मन लगे।'' ऐसा कह शायद वह अपने विभव को छुपाने का प्रयास करती। उनकी वह नाम पिपासा और अतृप्ति की बात से मैं भी कुछ पल भ्रमित सी हो गई। वस्तुतः तो वह मेरी स्थिति उजागर कर रही थी। नाम साधना में प्रवृत्त होने का परोक्ष रूप से निर्देश ही कर रही थी। हा.. मेरी मूढ़मति।

पर अगले ही दिन स्थिति स्पष्ट हो गई। पू॰ धर्मजी उस दिन प्रियतम से चिर मिलन की प्रतीक्षा में थी। उनकी विदाई के क्षण पास आते जा रहे थे। संतोष बहिनजी उनके अंतिम दर्शन करने आई। अहा दो संत विभूतियों का वह मिलन दृश्य..... पू॰ धर्म जी के पास पहुंचते ही पू॰बहिनजी के धैर्य का बांध टूट गया। मौन स्तब्धता के रूप में छलकी उनकी कुछ पल की प्रतिक्रिया से सभी के नैन छलक उठे थे। धर्मजी का हाथ थामे बहिनजी कहने लगी- ''जो हर क्षण श्याम.... श्याम की रट लगाता है वो श्याम स्वरूप ही हो जाता है और धर्मजी वही है।'' दोनों संत एक दूसरे की महिमा का गान कर रहीं थीं। पू॰धर्मजी, पू.बहिनजी को इंगित कर कह उठी थी–

''इनके रोम रोम में कृष्ण-कृष्ण-कृष्ण लिखा है.....।''

प्रिय-मिलन को निकुंज प्रवेश के समय कहे हुए धर्मजी के इन वचनों से मेरे सभी संशयों का तत्काल ही समाधान हो गया। नाम में रूचि क्या, संतोष बहिनजी जैसी संतों के तो प्राणों में, रोम रोम में वही समाहित होते हैं.....अपनी मूर्खता पर क्षोभ हो आता है और उनकी कृपा भरे लाड़ पर कृतज्ञता। उनके अपनत्व का प्रतिदान वास्तव में नाम सिमरन में डूबकर ही दिया जा सकता है। अस्तु।

अकल्पनीय तुषाराघात–

११ सितम्बर २००१ को वेणुविनोद कुंज पर आकस्मिक तुषाराघात सा हो गया।सबके प्रिय ठा॰ घनश्यामजी इस धराधाम से विमुख हो, नित्य धाम में महाराजश्री के पास जा प्रिया प्रियतम की सेवा में संलग्न हो गए। अविश्वसनीय इस मार्मिक घटना को झेल पाने में असमर्थ, सभी स्तब्ध रह गए थे। पू.देवीजी अपने कक्ष में बंद हो गई थी- पूरा वेणु विनोद नीरवता में डूब गया था। संतोष बहिनजी समाचार मिलते ही मर्माहत सी वेणुविनोद पहुंच तो गई पर भीतर तक नहीं जा

पाई। बाहर ही बैठ जोर जोर से रोने लगी। अपने इस प्यारे से छोटे भैय्या के विछोह को वो सहन नहीं कर पा रही थी। सभी शोक संतप्त थे। कौन किसको धीरज बंधाता। किसी तरह मनोरमा जी बहिनजी का हाथ पकड़ उन्हें अन्दर लेकर आई। बहुत देर बाद उनका रुदन थमा। उनके गुरु-पू॰राधा बाबा का प्रिय ठाकुर आज ठाकुर का हो गया था।

शीत प्रकोप – देहातीता –

शारीरिक तौर पर संतोष बहिनजी अब काफी अस्वस्थ रहने लगी थी। सर्दियों में तो सदैव ही इन्हें काफी कष्ट रहता था पर इस बार तो पैर की अंगुलियां ऐसी पक गई कि मरहम पट्टी करने के बावजूद असहनीय ठंड के प्रकोप से अंगुलियां गल ही गई। डाक्टर ने गैंगरीन होने की आशंका भी व्यक्त कर दी। पू॰मनोहर दास बाबा भी बहुत ही चिन्तित हो गए। उन्होंने वेणुविनोद कुंज से विद्याधर जी व वृन्दावन जी को सहायतार्थ भेजा। पर उनके बहुत अनुनय विनय करने के बावजूद बहिनजी ने अपना पांव छूने भी नहीं दिया। बहुत आग्रह करने पर भी यही कहती रही ''मैं अपने आप पट्टी कर लूंगी। भैय्या तुम लोग भजन करने वाले हो मैं पांव कैसे छूने दूं।'' बहुत देर प्रयास करने पर भी उन्हें कोई मना नहीं सका। और ये दैन्य मात्र दिखावा न था। वे ''तृणादपि सुनीचेन'' की स्थिति में पूर्णतया प्रतिष्ठित हो चुकी थी। अन्ततः वे दोनों दवाईयां वहीं छोड़ वापस लौट गए। सर्दी का मौसम जाते जाते घाव भी धीरे धीरे सूख गए। वस्तुतः सभी संतों के चरणों की रज समेटने की लोभी बहिनजी के चरण स्पर्श कर पाना बहुत ही दुर्लभ था। ये अवसर शायद ही किसी को सहज में मिल पाया हो। संतों के लिए तो क्या, नव साधकों को भी इस सुख के लिए तरसना ही पड़ता था। और तो और उनके चरणों में बैठना भी संभव

नहीं था। उनके पास उनके बराबर ही बैठना पड़ता, नहीं तो वो खुद भी जमीन पर आ बैठती। ऐसे में उन्हें कष्ट देना तो किसे रूचिकर लगता।

अक्टूबर २००३ में संतोष बहिनजी को हलका सा पक्षाघात हुआ जिसे ये अपनी इच्छाशक्ति से झेल गई पर उसका इनकी टांगों पर काफी प्रभाव पड़ा। रोग अपना जोर आजमाते रहे, दवाईयाँ भी चलती रहीं पर उस सबसे निर्लिप्त सी ये अपनी मस्ती में सदा की भांति नित्य की दिनचर्या में व्यस्त दिखतीं। चलने फिरने में तो बहुत ही असुविधा होने लगी। पर अब भी वह किसी परिचारिका को रखने के पक्ष में नहीं थी। रमन बहन ठाकुरजी की सेवा में सहयोग दिया करती थीं, चन्दन बहन घर का सारा काम संभाल लेती थी। वैसे अमीचंद जी ने सेवा के लिए एक महिला की भी व्यवस्था कर दी थी जिसने बहिनजी की बड़ी श्रद्धा से सेवा की। और शैवालिनी तो पूरा समय वहीं रहती थी। सभी सेवार्थ अवसर ढूँढते और यथासंभव सेवा कर कृतार्थ होते, पर बहिनजी किसी से कोई अपेक्षा नहीं रखती थीं- इतनी निरपेक्ष थी कि उस वक्त उन्हें देख सहसा ही याद आ जाती ये पंक्तियां *'मेरीचिन्ताहरिकरें,ममचिन्तेकाहोय।''* उनकी निर्भरता पूर्णतया श्रीहरि पर ही थी। श्रीहरि भी अपनी बान निभा उनके सब काम यथावत् चला रहे थे।

दिसम्बर २००३ महाराजश्री का जन्मोत्सव था। संतोष बहिनजी सदैव ही उस दिन महाराजश्री को प्रणाम् करने जाया करती थी। अक्सर सुबह सुबह ही वह आरती के समय पहुंचती थी। जितनी श्रद्धा से वह देव दर्शन के लिए जातीं, उससे भी अधिक प्रीति उनकी संत स्थलियों पर प्रकट होती थी। उनकी बढ़ती आयु व शारीरिक असमर्थता कभी भी इसमें कोई व्यवधान नहीं डाल पाई। पर इस वर्ष तो उनकी स्थिति से अवगत सभी को उनके आने में संशय ही था और वह सुबह आरती के समय, तक आ भी नहीं सकी। अक्सर मैं भी उनके दर्शन

हो जाने के लोभ से, उसी वक्त वेणु विनोद पहुंचती थी। उनकी अनुपस्थिति ने मुझे उदास सा कर दिया। मन शंकाओं से भी भर गया, पर जब मैं पद गान के समय महाराज श्री को श्रद्धांजलि अर्पण कर तमालकुंज समाधि स्थल पर बाहर प्रांगण में बैठी तो थोड़ी देर में ही देखा– पू.संतोष बहिनजी चुपचाप सीढ़ियों के पास आ बैठी हैं। संत दर्शन अभिलाषिनी ऐसी विषम रुग्ण अवस्था में भी अकेली ही चली आई थीं। प्रांगण में बैठे सभी लोगों में हलचल सी मच गई। सभी उन्हें अन्दर ले जाने को सहायतार्थ आगे आ रहे थे। दैन्यमूर्ति संतोषजी को सबकी वृत्ति पदगान से हट उनकी तरफ आकर्षित होना बहुत ही कष्टप्रद लग रहा था, जो उनके चेहरे और हावभाव से प्रकट हो रहा था। मैं भी थोड़ा उनके पास सरक आई थी। मुझे देखते हुए कहने लगीं– "आज मैं महाराज श्री को प्रणाम करने नहीं आई। मैं तो देवीजी से मिलने आई हूँ। अन्दर नहीं जा सकूँगी। डर लगता है कहीं चक्कर खाकर गिर न पड़ूं। तू उन्हें बाहर बुला दे। मैं उन्हें अन्तिम प्रणाम करने आई हूँ।" मैंने चारों ओर देखा। वह सचमुच में अकेली ही आई थीं, ऐसे में उनके "अन्तिम प्रणाम" को सुन मेरा हृदय आशंकाओं से भर उठा। मैंने कहा– "चलिए मैं हाथ पकड़ कर धीरे-धीरे महाराज श्री के समक्ष ले चलूँ, अन्दर तो चलिए।" सब ने रास्ता भी बना दिया पर वे मानी नहीं। बोलीं –"नहीं, देवीजी को यहीं बुला दो।" पू.देवीजी को संदेशा मिल चुका था पर वो उस पद की समाप्ति पर ही तो बाहिर आ सकती थीं। इसी बीच एक कौतुक हो गया।

भावदशा और छलिया ठाकुर–

अचम्भे में डालने वाली इस घटना का आंकलन और शब्दों में उसकी अभिव्यक्ति उसी रूप में कितने अंश में हो पाएगी, कहना

मुश्किल है। पू.संतोष बहिनजी जब से आकर बैठी थी एक १२-१३ वर्ष का ब्रह्मचारी बालक हाथ में माला झोली लिए उनसे कुछ ही दूर खड़ा था। वह इस उत्सव की इतनी भीड़ में केवल बहिन जी की ओर ही देख रहा था। बहिनजी भी बार-बार उसे देख लेती थी और फिर देवी जी को बुला देने की रट लगा देती थी। कुछ देर बाद बहिनजी मुझसे बोली– "देख इतनी ठंड में इसने कुछ भी गर्म कपड़ा नहीं पहना हुआ, इसे ठंड लग रही होगी। मैं अपना स्वेटर इसे दे दूं।" इतना कह वे अपना स्वेटर उतारने लगी। मैंने उनका हाथ वहीं थामते हुए कहा– "रुकिए, मैं जरा पूछकर आती हूँ। हमें चर्चा करते हुए देख वह ब्रह्मचारी गेट तक पहुंच गया था। मैंने जाकर पूछा– "स्वेटर पहनिएगा" उसने हां में सिर हिला दिया। झट अपना स्वेटर उतार मैंने उसे देना चाहा, पर वो दृढ़ स्वर में बोला– "ये नहीं लूंगा- उनका लूंगा" और अजीब सी मुस्कान से बहिनजी को ही देखता रहा। मुझे पता था, बहिनजी तो स्वेटर दे ही देंगी पर किसी से जल्दी लेती नहीं और सर्दी के इन दिनों में उन्हें बहुत ही असुविधा हो जाएगी। रोष भरे स्वर में मैं बोल उठी– "उनका तो नहीं मिलेगा। वह तो ठंड में ठिठुर जाएगी। जाइए यहां से..." उस बालक ने मुझे देखा और जोर से हंस दिया। एक क्षण में दरवाजा खोलकर वह चला गया। उसका देखना, उसकी हंसी बहुत अस्वभाविक सी थी पर क्या.... मैं समझ ही न पाइ। इतनी ठंड में 'हां' कहकर भी स्वेटर न लेना। आश्चर्यचकित कर देने वाला था "उन्हीं का लूंगा" की स्वर झंकृति के ध्यान में आते ही मैं झट गेट तक पहुंची, इधर उधर खोजने लगी पर कहीं भी वो दृष्टिगोचर न हुआ।

इतने में पू॰ देवीजी उस पद की समाप्ति होते ही पू॰संतोषजी के पास बाहर प्रांगण में आ चुकी थी। मनोरमा जी पास ही खड़ी थी।

बहिनजी ने झट से देवीजी की चरणरज ले ली.....अहा कितना कष्ट देवी जी के चेहरे पर झलक आया, पर इनकी दीनता में भी कहीं अस्वभाविकता न थी, ललक थी......चरण स्पर्श की इस प्रक्रिया पर दोनों संतों के अलौकिक भावों की झलक देखने को मिली। पू.देवीजी ने मनोरमाजी को संकेत किया, उन्होंने संतोष बहिनजी के चरण स्पर्श कर देवीजी के मस्तक से अपने कर छुआ दिए। सबको अपनी ओर आकृष्ट हुए देख बहिनजी ने थोड़ी ही देर में वापस जाने की जल्दी मचा दी। मैं उन्हें अकेले ही वापस जाते देख चुपचाप जा उनकी रिक्शा में बैठ गई। सहज तो वह कहां बैठने देतीं पर सभी लोग उन्हें बाहर तक छोड़ने आए थे और उनके प्रणाम करने के प्रयासों से झूझती सी बहिनजी मुझसे जिद्द भी न कर सकीं। रिक्शा चलते ही मुझे बहिनजी की असाधारण अवस्था का आभास हो गया। वे बहुत सी असंबंधित बातें कह रही थी। जगत उनकी स्मृति में था ही नहीं। "हम कहां जा रहे हैं, तू मेरा घर कैसे जानती है, तू उधर क्यों जा रही है।" आदि आदि। मेरे कहने पर कि मैं तो बोबो जी (पू॰ऊषाजी) के यहां ठाकुरजी के दर्शन करने जा रही हूं, वे 'अच्छा' कह चुप तो हो गईं पर बीच बीच में अटपटा सा कुछ कुछ फिर कह देतीं। मैं कुछ भी समझ नहीं पा रही थी। उनकी वृत्ति शायद अभी उसी ब्रह्मचारी को ही पकड़ रही थी– वे बार बार कह उठती– ''स्वेटर क्यों नहीं ले गए'' तभी उनके मुख से निकला– ''आंखे सुन्दर थी न'' इतना सुनते ही मैं चौंकी, और उनकी ओर देखा.... कुछ कुछ खटका सा हुआ। क्या??? ... और मेरी आंखों से अश्रु स्वतः ही झर झर बहने लगे। ''रंक रही जीवननिधि पाए'' ही यथार्थता थी क्या। पूरे रास्ते वे अपने में न थीं। ऐसी भावदशा विह्वलता में मैंने उन्हें कभी भी नहीं देखा था। काश, उस वक्त उनके



प्रदत्त निधि

साथ मुझ नासमझ की जगह कोई ऐसा व्यक्ति होता जो उनकी उस दशा का वास्तविक आंकलन कर पाता। (ये प्रसंग पू मनोहरदास बाबा ने सुनते ही कहा– "निश्चय ही ठाकुरजी ही थे।" अस्तु

उत्सवानंद छोड़ मैं उन्हें घर तक पहुंचाने गई, मेरी इस बात पर रीझ गईं या शायद अपनी उसी मस्ती की लटक में उस दिन मुझ पर उनकी अपार कृपा बरसी। एक चित्र जो उन्हें बहुत ही प्रिय था और वो रोज उसे प्रीतिवश निहारती रहती थीं, एक पुस्तक के अन्दर से निकाला उन्होंने। श्रीवल्लभाचार्य जी और श्यामसुन्दर के इस भावप्रद चित्र में ठाकुर की शयन मुद्रा की सौंदर्य छवि बरबस ही मन को आकर्षित करती है। झीने वस्त्रों में से झांकते उनके मनोरम श्रीअंग, आभूषणों की झिलमिलाहट, शैय्या पर पास ही रखी वंशी पर उर की माला लटक रही है, बांए मुड़े हुए घुटने के नीचे कोमल गोल तकिया. .... अहा अनिर्वचनीय छटा है और पास ही खड़े श्रीवल्लभाचार्य जी उनकी ओढ़ी हुई झीनी चादर का छोर पकड़े नेह से पगे नैनों से उत्थापन के लिये मनुहार कर रहे हैं.....ये चित्र उन्होंने बहुत प्यार से मेरे हाथों पर धर दिया। उनसे प्रदत्त इस कृपा दान को झट से आंचल में समेट मैं उन्हें प्रणाम करती हुई घर लौट आई।

उस दिन स्वप्न में भी ऐसा नहीं सोच पाई थी कि ये उनकी मस्ती भरी झलक, ठाकुर सान्निध्य से ओतप्रोत चेष्टाएं, उनकी इस धरा से दिव्यलोक को प्रस्थान की सूचक सी हैं। और सच ही उनका महाराजश्री को उस दिन का प्रणाम अंतिम प्रणाम ही था। अस्तु

अप्रैल २००४, रामनवमी वाले दिन की बात है। सभी बहनें संतोष बहिनजी को रामजी के जन्मोत्सव की बधाई देने पहुंची। वे इस वर्ष ठाकुरजी को प्रणाम करने पूज्या ऊषाजी के यहां नहीं पहुंच पाई थीं। बहिनजी अकेली ही बैठी राम जन्मोत्सव की तन्मयता में शायद

साकेत चिन्तन में ही थी। हम सब बहनों की उपस्थिति से वो सजग सी हुई और उनकी स्वभावगत दैन्यता युगलप्रिया जी के उनके बहुत ही प्रिय इस पद में प्रकट होने लगी–

मेरे गति एक आप, दूजो कोऊ और न!
स्त्री को तन मलीन, कर्म अधिकार न!!
चपल बुद्धि बरनी कवि, होत हिय ज्ञान न!
मंद भाग्य मंद कर्म, बनत नहीं साधना!!
विद्या गुणहीन दीन नेक भक्ति भाव न!
नेम ध्यान धर्म, कछु होत न उपासना!!
गेह फंसी ग्रसी रोग, एकहू उपाय न!
करूं कहा, जाऊं कहां काहू पै बसाय न!!
इतने पै दोह धरत तात मात साजना!
युगल प्रिया तऊ तुम्हें, प्यारे पिय लाज न!!

अपने बचपन में पढ़ा ये पद इन्हें बहुत ही प्रिय था और अक्सर ही सबको सुनाती थी। सुना सुनाकर शायद ये औरों में दैन्य भाव भरती और अपना विभव सुरक्षित करतीं थीं। उस दिन भी बहुत ही बुलन्द आवाज में उन्होंने ये सुनाया। इस ८१ वर्ष की आयु में इतनी प्रभावित स्वर में उनके मुख से ये पद सुन एक नव साधिका के मन में इस स्वर को टेप में सुरक्षित कर लेने का भाव आ गया। कौन जाने हम इस स्वर से कब वंचित हो जाए।

इसी सोच में वह दो दिन बाद ही पू॰संतोष बहिनजी के यहां, साड़ी के आंचल से टेपयंत्र छुपा, पहुंच गई। आग्रह करने पर उन्होंने युगल प्रिया जी की जीवनी के साथ वो पद सुनाया। उन्हें साड़ी में छिपे यंत्र का आभास न था, पर अंतिम लाइन गाते गाते उनकी निगाह वहां पड़ ही गई। "ये क्या है" प्रश्न को सुन वह सहम गईं। "आपकी

आवाज सुनने...." वह आगे कुछ बोल पाती, इससे पहले ही संतोष बहनजी की व्यथित आवाज गूंज उठी, "ठाकुर की आवाज सुनने की इच्छा क्यों नहीं होती। ललक तो उस मदिर स्वर सुनने की होनी चाहिए। यहीं अटक जाओगी- इसी आवाज में, फिर ठाकुर के स्वर को तरस जाओगी। मिटाओ इसे, अभी मिटाओ- मेरे सामने।" उनके आदेश का पालन करते हुए उस अनुगता ने उनके सामने ही टेप से वो आवाज हटा दी। संतोष बहिनजी ने गंभीर होकर उसे कहा- मुनिया, इस पथ पर बहुत ही सावधान रहना, कहीं भी अटकना नहीं। किसी भी व्यक्ति, वस्तु या स्थली का आकर्षण 'उनसे' विमुख न कर सके इसका सदैव ध्यान रखना। सब आकर्षणों से उबर पाओ, तब कहीं जाकर वो मिलते हैं...." अहा उस साधिका को समझा रही, जीवन की अंतिम अवस्था में भी पू.बहन जी कितनी सतर्क, कितनी सावधान थी। कोई इन्हें महत्व दे, पूज्य बनायें सो ये इन्हें स्वीकार ही नहीं था।

अपने इसी दैन्यता के कड़े सुरक्षा कवच से वे यदाकदा चुपके से कृपादान भी कर जाती थी। अक्सर वस्तु प्राप्त होने पर हम समझ ही नहीं पाते कि वास्तव में इनके प्रदाता कौन है। यहां तक कि प्राप्त वस्तु का सही मूल्यांकन भी नहीं कर पाते। बहिनजी के जाने से कुछ ही पहले की बात है। प्रेम बहन इंग्लैण्ड में मनोचिकित्सक हैं और श्रीधाम में उनकी अगाध श्रद्धा है। वर्ष में तीन चार महीने छुट्टी लेकर वे वृन्दावन रहती हैं। श्रीबिहारीजी के प्रति और उनके प्राकट्य के आधार स्वामी हरिदासजी के प्रति प्रेमजी की अद्वितीय निष्ठा है। पर साधक को इस पथ में शंकाओं और बाधाओं के निवारणार्थ संतों का आश्रय आवश्यक हो जाता है। पू.बहिनजी तो सबकी गति मति थीं। प्रेम जी भी संतोष बहन जी के अति स्नेह की भागी रहीं तथा उनसे हर प्रकार का समाधान प्राप्त करती रहीं।

एक दिन प्रेम बहन अपने मन की लालसा और प्रभु दर्शन की त्वरा लिए पू.बहिनजी के आगे करुण क्रन्दन रही थीं। संतोष बहिनजी सबकी व्यथा को बहुत ही सहानुभूति से सुनती थीं। आज प्रेम बहन बहुत ही विह्वल थीं। साधक को अपने प्रयासों पर तो वैसे भी भरोसा नहीं होता, संत कृपा का ही बल होता है। लो, संत संतोषजी का हृदय द्रवित हो गया। प्रेम के अश्रु उनके उर अन्तर को भिगो गए। वे भी आकुल व्याकुल हो उठीं। बोलीं- ''मुनिया, आज तुझे एक चीज दूं'' वे उठीं और बहुत ही मुश्किल से अलमारी तक जा, कुछ ढूंढने लगी। थोड़ी देर बाद ही आंचल से एक चित्र को साफ कर, माथे से लगा, प्रेमजी के हाथों में धरते हुए बोलीं– "आज से ये तेरे गुरु हुए, ये ही तेरा पथ प्रदर्शन करेंगे।" प्रेमजी प्रमुदित सी ''राधाबाबा'' का वो चित्र निहार रही थीं और बहिनजी कह रही थीं ''मैं सच्चे मन से उनसे विनती करती हूं कि वे तुम्हें अपनाएं, तुम्हें ठाकुर से मिलाएं। मैं साधिकार उनसे कहूंगी, वे मुझ पर कृपा करने से पहले तुझ पर कृपा करें।'' निश्चय ही इस बरबस छलकती कृपा वृष्टि को सहेजना प्रेम बहन के लिए इतना सहज न था। वह फिर रो पड़ीं। अश्रुधारा से कपोल ही नहीं आंचल तक भीग गया। पू.राधा बाबा का वह चित्र संतोष बहिनजी द्वारा प्रदत्त एक अमूल्य निधि ही था और इस कृपादान की प्रक्रिया का विधिवत दीक्षा से क्या कम महत्व है?

महाप्रयाण–

एक बार मैंने पूज्या धर्मजी से पूछा था– ''जब अत्यधिक शारीरिक कष्ट हो तो नाम स्मरण संभव हो पाता है क्या? तब भी वृत्ति ठाकुर में लगी रहना संभव है क्या?'' उन्होंने स्पष्ट शब्दों में बहुत ही मर्म की बात कही थी। उन्होंने कहा– ''अत्यधिक कष्ट में साधारणतया 'नाम' कुछ पल को तो छूट ही जाता है। देह की असहनीय पीड़ा, वृत्ति

को ठाकुर से हटा लेने में सक्षम हो ही जाती है। करोड़ों में कोई एक विरला होता है जो देहातीत है, केवल और केवल ठाकुर में ही जिसकी अटकन है। इसलिए सतत नामजप के अभ्यास और केवल ठाकुर पर निर्भरता की बात कही जाती है।'' पूज्या संतोष बहिनजी इसी कोटि की थीं।

२४ जून २००४ की भोर कुछ अनहोनी का संदेशा देती हुई उदय हुई। पू॰संतोष बहिनजी शारीरिक असमर्थता की वजह से स्नानघर में गिर पड़ीं। बाद में अहसास हुआ कि पक्षाघात हो जाने की वजह से वे अपने को संभाल न पाई थीं। क्या ही आश्चर्य कि पूरा दिन इन्होंने किसी को बताया तक नहीं। प्रति दिन की तरह जब सुलोचना बाई ३-३० बजे उन्हें प्रणाम करने गई तो उन्हें पता चला। वह बहुत ही दुःखी हुई कि इतनी देर हो गई उपचार शुरू नहीं हो पाया। पर पू. बहिनजी तो अपनी नित्य की स्वभाविक स्थिति में ही थी, मानों कुछ हुआ ही नहीं। रोज की तरह सुलोचना बाई को पढ़कर कुछ-कुछ सुनाने के लिए पुस्तक उठाने का प्रयास करने लगीं। उन्होंने कहा– बहिनजी आज रहने दीजिए, आपकी तबियत ठीक नहीं है। आप बोली– ''मुझे कुछ नहीं हुआ है, बहुत ही अच्छा प्रसंग है सुन'' सुलोचना बाई का मन भर आया। हताश हो बोलीं- अच्छा, मैं किताब पकड़ लेती हूं आप पढ़ो। पर बहिनजी नहीं मानी। किताब को घुटने पर टिका, बाएं हाथ का सहारा दे वे पढ़ने लगीं। अब तो सुलोचना बाई से रहा न गया। उनकी स्थिति से द्रवित वो रोती-रोती अपने घर चली गई। रास्ते में ही रिक्शा में आती शैवालिनी को उन्होंने पूरा समाचार दे दिया। और लोगों को भी उनकी गंभीर अस्वस्थता का पता चला। उनके दाईं ओर के अंग प्रभावित हो गए थे। डाक्टर को दिखा उचित उपचार शुरू कर दिया गया। अगले दिन सुबह पू.मनोहर दास बाबा इन्हें देखने

पहुंच गए। पू॰देवीजी व मनोरमा जी भी साथ थीं। बाबा तो संतोष बहिनजी के तख्त पर ही एक ओर बैठ गए, देवीजी तख्त के पास ही बहिनजी के एकदम समीप, उनके घुटने पर टेक लगाए झुकी हुई खड़ी थी। पू.देवीजी को मैंने सदा ही गंभीर गरिमामय स्थिति में देखा है और उस दिन तो उनकी दृष्टि से पू.संतोष बहिनजी के लिए अगाध स्नेह के लिए श्रद्धा सिन्धु ही छलक रहा था। दोनों मौन एक दूसरे को देख रहीं थीं। मैं बहिनजी की पीठ को सहारा दिए बैठी थी सो उनके चेहरे के भाव तो नहीं देख पाई, पर देवीजी के चेहरे पर झलके वो कोमल भाव.... उनके हृदय का द्रवण रोम रोम से प्रकट हो रहा था। ये मौन संभाषण पिछले ५० वर्षों के संबंध की अभिव्यक्ति को इन कुछ पलों में ही उजागर कर गया। थोड़ी देर बाद ही पू॰सुशीला बहिनजी भी आ गईं थीं। पू.ऊषाजी के परिकर की सभी बहनें बारी-बारी से आ जा रही थीं......अलौकिक गोपियों की संगोष्ठी का सा दिव्य वातावरण बन गया था।

संध्या को सबकी सहमति से शैवालिनी, विशेशर भाई व भगवान दास पू.बहिनजी को मथुरा डा.गर्ग को दिखाने ले गए। सभी जांच की गई, स्केनिंग भी की गई। पू॰संतोष बहिनजी के दिमाग की परतों में पानी भर गया था और उपचार के लिए उन्हें अस्पताल में भरती करना आवश्यक था, पर बहिनजी इसके लिए बिलकुल भी तैयार न थी। अन्ततः उन्हें घर वापस ले आए और अगले दिन पू.बाबा की देखरेख में डा.चन्द्रेश ने घर पर ही सब यथासंभव उपचार शुरू कर दिए। सूरजघाट परिक्रमा मार्ग पर रह रही संन्यासिनी डा.उर्मिलाजी भी पू॰बहिनजी की श्रद्धालु होने से सहयोग देने आ पहुंची थी। स्थिति कभी संतोषजनक हो जाती और कभी चिन्ताजनक हो जाती।

२६ जून की प्रातः वहां पहुंचने पर पता चला कि करूणा और प्रकाश जी रातभर पू॰बहिनजी की सेवा में थी। प्रकाशजी ने सुबह

भोर के समय बहिनजी की ठाकुर सेवा का मार्मिक विवरण सुनाया। सुनकर सभी का मन भर आया। ''नित्यप्रति की तरह बहिनजी रात्रि के अंतिम प्रहर में ही २.३० बजे सजग हो गई और घिसटते घिसटते ठाकुरजी के समक्ष पहुंच गई। प्रकाशजी ने ठाकुरजी की चौकी साफ की, करूणा की सहायता से पीछे का पर्दा बदला, पर चित्रपटों की सेवा बहिनजी ने निज हाथों से की। इतनी असमर्थता में भी मन ठाकुर सेवा को लालायित..... कितनी उच्चस्थिति की झलक थी। बाएं घुटने पर चित्रपट रख, बाएं हाथ में रूमाल ले बहिनजी बहुत ही प्रीतिपूर्वक उन्हें साफ कर प्रकाश को पकड़ाने लगीं ओर प्रकाशजी उन्हें चौकी पर विराजित करती जातीं। एक बार प्रकाशजी ने चित्रपट जहां से उठाया था वहां न रख, गलती से कहीं और रख दिया। बहिनजी इतनी सजग थी कि उसी वक्त उन्हें टोकती हुई बोली- ''इनकी जगह यहां नहीं, उधर है। उनके स्थान पर ही पधराओ'' सेवा में इन सूक्ष्म बातों का महत्व संतजन ही जानते हैं, जनाते हैं। अस्तु, इस समय शैवालिनी भी सेवा में थी इसीलिए मैं मालाझोली लिए चटाई पर बैठ नाम जप में लग गई। पू॰बहिनजी की दृष्टि जैसे ही मेरी माला झोली पर गईं, बहुत ही नाराज हो गईं। उग्र स्वर में बोली- ''ये तो नाम अपराध कर रही हो तुम। छोड़ो माला जाओ, जाओ अपने घर। ठाकुर प्रीति को छोड़ किसी भी निमित्त लिया हुआ नाम एक अपराध है। तुम मेरे लिए ठाकुर से विनय कर रही हो न.......'' मैं स्तब्ध सी उन्हें देखती रह गई। उस गंभीर परिस्थिति में भी इतनी जागरूकता.....साधक की आदर्श तो वे थीं ही, अतुलनीय समर्पण की प्रतिमूर्ति भी थी। उनके स्वास्थ्य के लिए कोई ठाकुर से कहे, ये उन्हें सह्य ही न था। वैसे ये भी सच है कि मैं तो अपना नित नियम ही पूरा कर रही थी। ठाकुर से उनके लिए प्रार्थना करनी चाहिए, ये मैं सोच ही न पाई थी। पू॰बहिनजी ठाकुरजी

की इतनी अपनी थी, मैं ठाकुर जी को उनकी स्थिति क्या जताती, पर उनकी सतर्कता.....मुग्ध हो गई मैं। हम सभी के हर क्रियाकलाप पर उनकी निगाह है ये सोच हर्षित और निश्चिंत भी। मैंने माला झोली छुपा ली। वैसे भी इन पुण्यात्माओं के समक्ष माला से नाम स्मरण का औचित्य ही क्या। इनकी उपस्थिति से तो स्वतः ही नाम जप होने लगता है। अस्तु। दशमी की रात भी प्रकाशजी सेवा में थी। उस दिन उत्थापन सेवा के समय पू॰बहिनजी के हाथ से शालिग्राम जी छूट गए। शायद अत्यधिक कमजोरी ही वजह हो, पर देखने में लगा मानो उन्होंने ही शालिग्राम जी को ढुरका दिया है। इस घटना से प्रकाश जी सहम सी गईं। उस समय सभी को पू॰बहिनजी के जाने का अंदेशा सा हो गया।

आह्लाद-छलकन –

एकादशी की सुबह उनकी अलौकिक दशा देखने में आई। बहिनजी की कमर को सहारा दिए मैं उनके पीछे बैठी थी। एक बहन उन्हें जूस पिला रही थी। उनका चेहरा उस वक्त असाधारण आभामय विचित्र मस्ती लिए था। लगा, वे भावावेश में हैं। पू॰बहिनजी बरामदे के उस पार मंदिर के दरवाजे पर टकटकी लगाए देख रही थी। चेहरे का आह्लाद देखते ही बनता था। शायद.....नहीं, निश्चय ही वहां उन्हें ठाकुरजी प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रहे थे। एकाएक हाथ को झटका-मटका कर कुछ कुछ झूमती सी वो गा उठीं "सखी, हौं श्याम रंग रंगी....." कुछ दिन पहले पू॰राधा बाबा की अनुभूतियों की लीलापरक अभिव्यक्ति लिए छप रही किताब 'सखी, हौं श्याम रंग रंगी' का मुखपृष्ठ शैवालिनी ने उन्हें दिखाया था। संभवत इस वक्त उनका मन वहीं अटका था। उसी स्मृति में डूबी वो फिर गा उठी– "सखी, हौं श्याम रंग रंगी" उस वक्त उनकी मस्ती, रोम रोम से छलकता आह्लाद... मैं चौंकी। अपनी जिस स्थिति को सप्रयास दीनता के आवरण में सदा ही

इन्होंने छुपाए रखा, कैसे स्वीकारोक्ति सा, अभिव्यक्त हो रहा था। अब अपने को छुपाने का प्रयास विफल हो रहा था। वे आगे गाती गाती कह उठी- "देख बिकाय गई वह मूरति, सूरत मांहि पगी...." मैंने थोड़ा झुककर अपना मुख उनके सम्मुख करते हुए कहा- "मुझे भी वो सूरत दिखा दो न" अन्तर में पू.राधा बाबा के वचन गूंज रहे थे कि अंतिम समय उन्हें लेने श्रीकृष्ण अवश्य पधारेंगे। मुझे ये आभास हो रहा था कि वो अंतिम वेला अब दूर नहीं है। पू.बहिनजी ने बड़ी कोमलता से मेरा चेहरा पीछे कर दिया। शायद मेरा चेहरा उनके और ठाकुर के बीच आ गया था। पर ऐसा करने के वक्त उनका वह स्पर्श... वो चितवन...। शब्दों में उन भावों को व्यक्त नहीं किया जा सकता, न उस स्पर्श को ही कुछ नाम दिया जा सकता है।... पूरा पद गा वह मुझे देखने लगी। मैं मंत्रमुग्ध सी उन्हें देख रही थी। किसी की उपस्थिति का मुझे कुछ भी आभास न रहा। मेरा हाथ थामे वे एकटक मुझे देखने लगी। अन्तर्मन को भेदती सी वो दो आंखे... मेरे मन की ग्रन्थियों को पिघलाती सी वो अवलोकन। मेरे नैनों से अश्रु बह रहे थे और लो मैं धीरे धीरे सुबक रही थी। ये भावनाएं क्या थीं शब्दों में कहा नहीं जा सकता। ये अश्रु विदाई के अश्रु नहीं थे, अन्तर्मन का द्रवित सा आह्लाद था। कुछ था जो वे मेरे अन्दर उड़ेल रही थी, निर्निमेष-अपलक-एक अटूट धारावत... सारा वातावरण मुझे नीरव सा लग रहा था। तभी कोई अचानक चिल्ला उठा- "आप इस तरह रो क्यू रही हो,मानो ये जा रही हैं। ये ठीक हो जाएगीं, आप कृपया रोएं नहीं" बहुत मुश्किल से मैंने अपने को संभाला। उनकी मजबूत पकड़ से अपना हाथ छुटाया और थोड़ी दूर जाकर बैठ गई। उनके पीछे तकिए लगा दिए।

तभी पू.मनोहर दास बाबा, विद्याधरजी को साथ लिए आ गए। बाबा के तख्त पर बैठते ही बहिनजी झट पीछे रखा तकिया बाएं हाथ

से हटाने का प्रयास करने लगीं। मैंने उनका हाथ पकड़ते हुए कहा- "ये क्या कर रही हैं आप, लगा रहने दीजिए न" उस अप्राकृत सी अवस्था में भी वो सजग थीं। वैष्णवोचित परिपाटी की शिक्षा देती सी बोलीं- "बड़ों के सामने-संतों के सामने तकियों के सहारे बैठना उचित है क्या, शोभा नहीं देता।" बाबा ने भी विरोध किया, पर वो न मानीं। मैं फिर उनकी पीठ को सहारा दे उनके पीछे ही बैठ गई। तभी साधु भक्ति विजय भी उन्हें देखने पहुंच गए। और सामने भूमि पर ही बैठ गए। बाबा ने बहिनजी का दायां हाथ थामा हुआ था जो निष्क्रिय होता जा रहा था। पू॰बहिनजी ने बाबा से पूछा- "ये सब जाने के ही लक्षण हैं न" बाबा ने 'हां' कह सिर हिलाते हुए कहा- "लगता तो यही है, क्यों तैयार हो न?" उसकी प्रतिक्रिया तो मैं बहिनजी के चेहरे पर देख नहीं पाई, पर पुलकित देह का स्पर्श अवश्य हुआ। मस्ती में वो कह उठीं-

मरने से सब जग डरै, सो मेरे आनंद।
कब मरि हौं, कब पाई हों पूरन परमानंद॥

तभी अमीचंद जी के ठाकुरजी की आरती और चरणामृत लेकर पुष्पा आ गई। पुष्पा एक लम्बी अवधि से पू.संतोष बहिनजी के यहां काम कर रही थी। अभी तक तो वो नाममात्र की सेविका थी क्योंकि बहिनजी जो काम खुद बिलकुल ही नहीं कर पाती थी, केवल वो ही इससे करवाती थीं। बर्तनों के लिए गर्म पानी करके देतीं। इतना ही नहीं, इसे खुद चाय बनाकर पिलातीं। इसकी घर गृहस्थी की सुविधाओं का भी यथासंभव प्रयास करती। स्वभाव से ही दीनों के प्रति इनकी ममता उमड़ पड़ती थी, सो पुष्पा पर भी इनकी अतिशय प्यार भरी दृष्टि थी। अब इनकी असमर्थ अवस्था में पुष्पा ने भी भरपूर सेवा की। उनकी सब प्रकार की ही सेवा ये निसंकोच बहुत ही श्रद्धा से कर

रही थी। पुष्पा के पति ने भी पूर्ण सहयोग देते हुए रात्रि को भी उसके वहां रहने पर अपनी सहमति दे दी थी। अस्तु- उसके आरती और चरणामृत लाने पर जैसे ही चरणामृत के लिए मैंने उनका हाथ आगे बढ़ाना चाहा तो अपनी उसी बुलंद आवाज में बोली- "संत सामने बैठे हैं, पहले उन्हें देना चाहिए।" पू.बाबा को चरणामृत दिला, विद्याधर जी को दिलाया, साधु भक्ति विजय को दिलाया तब कहीं जाकर स्वयं लिया। अहा...वैष्णवोचित सदाचार की जीवंत प्रतिमा। वस्तुतः उनके संग व्यतीत किया हर क्षण उपदेशात्मक है और सभी साधकों के लिए अनुकरणीय है।

अंतिम संदेश –

उसी दिन शाम ३ बजे पू.सुशीला बहिनजी उन्हें देखने आ गई। बहिनजी सुशीला जी को देखते ही हर्षविभोर हो, कह उठी-"वो आ गईं वो आ गईं।" पास बैठी एक साधिका ने उनकी सजगता जानने के लिए पूछा– "कौन हैं, पहचानती हैं आप?" आप बोली- "पहचानूंगी क्यों नहीं, ये मेरी सिरताज हैं, ऊषाजी की स्वरूप हैं।" तभी सुलोचना बाई को दिखा किसी ने पूछा- "और ये कौन है" पू.बहिनजी ने कहा- "इन्हें भी पहचानती हूं, रोज मुझसे कथा सुनने आती हैं।" इतने में पू॰सुशीला बहिनजी तख्त के एकदम पास पहुंच गई थी। वे उनको प्रणाम करती उनके समक्ष ही बैठ गईं। प्रणाम करना तो पू॰बहिनजी को कष्ट पहुंचाना ही होता, उससे पहले ही संतोष बहिनजी उनके दोनों हाथ अपने बाएं हाथ में ले शीश से लगाने का प्रयास करने लगीं। इस प्रक्रिया में परस्पर जुड़े हुए उनके शीश एक दिव्य प्रेमिल संबंध को दर्शा रहे थे। तभी पू.बहिनजी ने दीनता भरे स्वर में उनसे नामदान की रट सी लगा दी- "नाम में कैसे मन लगे, कुछ

उपाय बताओ।'' पू॰सुशीला बहिनजी उनके इन वाक्यों पर मुस्करा दीं और बोलीं- ''आप खुद ही तो नामस्वरूप हो।'' संतोष बहिनजी एकदम अन्तर्मुखी हो उठीं। इसके बाद बहुत देर तक आंखें बंद किए उन्होंने साधना पक्ष पर बहुत ही सार गर्भित बातें कही। यही उनका अंतिम वाणी संदेश रहा क्योंकि उसके बाद उनकी वाणी अस्पष्ट होती गई। पक्षाघात का प्रभाव चेहरे पर भी आ चुका था और फिर अंत तक उनकी वाणी स्पष्ट न हो सकी। साधकों के लिए प्राण संजीवनी सी ये बातें बहुत ही मूल्यवान हैं। पहले तो किसी को लेखनीबद्ध करने का विचार न आया। कुछ देर बाद करुणा बहन उन्हें डायरी में लिखती रही। पू.बहिनजी कह रही थीं-

गोपीभाव सर्वोपरि है; सब साधनों का सर्वोपरि..... तभी तो ठाकुर नरोत्तम दास ने अपनी वाणी में कहा है–

मनेर स्मरण प्राण, मधुर मधुर धाम
युगल विलास स्मृति सार
साधन साध्य शेई एहा बई आर नाई
एइ तत्व सर्व विधिसार
युगल विलास स्मृति सार......

गोपीभाव.....साधना......साध्य......। साधना है अपने को मिटा देना। सर्वोपरि साधना है ये.....ममत्व न रहे, अहं न रहे, फिर वही, वही रह जाएगा और काम बन जाएगा। कहने को ये आसान है, परन्तु अति दुर्लभ काम है....इसके लिए अपने को मिटा देना..... वही, वही रह जाएगा.....'' पू.बहन जी की अर्धचेतना की भावभीनी दशा में उच्चरित हैं ये शब्द। कुछ रुककर बोलीं- ''शेई जाने जेइ देय जनाय .....जिसको जनाय वही जान सकता है। उसे सब मालूम है तुम कितने पानी में हो।'' संभवतः ठाकुर उनके समक्ष ही खड़े थे, बहिनजी गद्‌गद

वाणी से कह उठी- ''तुम्हारी कृपा का ओर छोर नहीं, जिसको चाहो अपना सकते हो। तुम जिसको जनाना चाहो जना सकते हो..... देहध्यास से उपराम होने से ही ठाकुर की प्राप्ति होती है। कोई भी संत शरीर..... बीच में ही एक साधिका बोल पड़ी- ''सहज उनसे अपनापन हो जाए, इसका उपाय बताएँ।'' आप बोलीं- ''ठाकुर को रिझाने का उपाय....'' सबकी ओर देखती, दीर्घ श्वांस भरती हुई, पू॰बहिनजी नैन मूंदते हुए बोलीं- कोई उन्हें रिझा के तो देखे। अनेक वर्ष तपस्या करने के बाद भी तपस्वियों के हाथ नहीं आए और गोपियों के हाथ आ गए। ऋषिजन भक्ति के अभिमान से फूले न समाते थे, फिर उन्हें ठाकुर क्यों कर प्राप्त होते....अपना आपा खोना बहुत मुश्किल है।.....''

कुछ देर स्तब्धता सी रही। फिर किसी ने कहा- ''बहिनजी, आप तो चारों ओर से इतने उत्कृष्ट संतों, वैरागियों से घिरी हुई हैं, मैं अपात्र, अयोग्य....जो आपके साथ जुड़ी बैठी हूं, मेरा भी कुछ कर जाइए। मेरा क्या होगा?'' अनायास ही अपनी लटक में पू.बहिनजी निजस्वरूप की स्वीकारोक्ति प्रकट करती कह उठी- ''मेरे पास कोई ऐसा वैसा व्यक्ति तो आ ही नहीं सकता'' उसके ''क्यों'' पूछते ही बोलीं– ''मैं उनकी जो हूं'' और उस समय उनके चेहरे पर लाज भरी आभा थी।

इसके बाद जो वे मौन हुईं तो हम उनकी वाणी को तरस ही गए। अपनी बुलंद आवाज से हमें भक्त गाथाएं सुनाने वाली, पथ निर्देश करने वाली, पलपल सावधान करने वाली की वाणी ने विश्राम ले लिया था। उस दिन एकादशी को दिया गया उनका ये अंतिम संदेश जिस जिस व्यक्ति ने उनके श्रीमुख से श्रवण किया, धन्य धन्य हो गया। उस वक्त अपूर्व दिव्य वातावरण था। थोड़ी देर बाद पू॰सुशीला जी व अन्य कुछ बहनें चली गईं। उनके जाते ही पू॰संतोष बहिनजी ने

अपने को पूर्णतया समेट सा लिया। एकदम ही अन्तर्मुखी हो गईं। धीरे धीरे उनकी दशा चिन्तनीय होती गई। अर्धचेतना की सी उस अवस्था को देख सभी को लगने लगा मानों वो एकादशी का दिन बहिनजी के प्रिया प्रियतम से मिलन का स्मृति दिवस ही बन जाएगा।

कुछ साधिकाओं का उनकी इस अवस्था से विचलित हो डाक्टरी भागदौड़ करना अस्वभाविक न था। अन्ततः द्वादशी को सुबह उन्हें सेवाश्रम में भरती करवा दिया गया। बेहतर इलाज सुविधा होने से उनकी स्थिति सुधरती सी दिखी। उन दिनों शैवालिनी की तन मन प्राण पगी सेवा तो अतुलनीय रही ही, टटिया स्थान पर रह रहे कुछ उच्चकोटि के साधकों का श्रद्धामय सहयोग भी निश्चय ही साधुवाद का विषय है। पूरे चालीस दिन अस्पताल में रह पू.बहिनजी ने अपने स्पर्श से इन सेवा करने वाले परिचितों अपरिचितों को पावन किया। वस्तुतः २८ जून एकादशी को जो वो उस साम्राज्य में डूबी तो एक पल भी उस स्थिति से उबरी नहीं। अपनी जिस स्थिति को जिन्दगी भर वे सप्रयास छुपाती रही थीं वह सहज ही इन दिनों प्रकट होती गई। देहातीत बहनजी वस्तुतः रुग्णता, शारीरिक कष्ट से असंबंधित सी हर पल ठाकुर के सान्निध्य में ही रही। उनका आह्लाद भरा चेहरा, प्रस्फुटित वाणी, प्रफुल्लित चितवन इसका प्रमाण थे और उनकी सन्निधि में रहा हर व्यक्ति उस छलकन से निश्चय ही सराबोर भी हुआ।

३० जुलाई को पू॰बहिनजी की बहन के पुत्र पू॰ श्रीकृष्ण कुमार (कुक्कु) भी लखनऊ से पहुंच गए। इनका बहिनजी से रक्त का संबंध तो था ही, उससे भी ज्यादा अध्यात्म के नाते श्रद्धा का नाता था। बहुत वर्षों से, जब भी अवसर मिलता, ये वृन्दावन आ इनकी सेवा करते थे। गाड़ी से उत्तर, ये सीधे अस्पताल ही पहुंच गए और चुपचाप उनकी यथासंभव सेवा में जुट गए। बहिनजी परम वैराग्यपूर्ण जीवन

यापन कर रही थीं। उन अल्प से वस्त्रों में अब व्यवस्था में असुविधा हो रही थी। ये चार नए ब्लाऊज और पेटीकोट सिलवा लाए। बहिनजी की कोमल दुबली काया पर मोटी धोती लिपटाने में मुश्किल होती, सो पतली मुलायम धोतियाँ खरीद लाए।.... इनकी हर सेवा श्रद्धा से ओतप्रोत थी।

लीला संवरण–

१ अगस्त को पू॰बहिनजी के स्वास्थ्य में काफी सुधार दिखने लगा। उन्हें कुर्सी पर बिठा बाहर घुमाया भी गया। वे अपेक्षाकृत काफी सजग थी। सुनकर बहुत ही अच्छा लगा। सब निश्चिन्त से हो गए कि शायद पू.बहनजी अभी कुछ दिन और हमें अपना सान्निध्य प्रदान कर देंगी। उसी दिन दोपहर सामने ही बैठी एक साधिका को वो कुछ कहने का प्रयास कर रही थी पर कुछ भी स्पष्ट नहीं था। उनकी राधाकृष्ण ....राधाकृष्ण.... की सी ध्वनि सुन किसी ने कहा- ''बहिनजी कह रही है सब राधाजी करेंगी'' वास्तव में अस्पष्ट कहीं गई बातों का हम अपनी बुद्धि से अनुमान सा लगा लेते थे। उस साधिका ने बहिनजी के मुख के पास जो अपना कान लगाया तो.....अहा एकदम स्पष्ट ''श्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः, श्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः'' का उच्चारण। इतने आह्लादित, उन्मादित स्वर में बोला गया ये युगल मंत्र, उनकी वास्तविक स्थिति को उजागर कर गया। जिस तथ्य को सब प्रयास करने पर भी जान नहीं पाए थे, आज पता चला वो इसी युगल मंत्र का ही सतत् जप करती थी। उनके गोपनीय साधना पक्ष के और भी रहस्य, जो जीवनभर वो सबसे छुपाती रहीं, प्रकट हो जाते, पर हम साधकों के प्रति अन्याय सा करते प्रियतम श्यामसुन्दर ने उनकी वाणी को अक्षमता का आवरण ओढ़ा दिया। उस साम्राज्य की झलक समक्ष देखते हुए भी सब कुछ गोपनीय ही रह गया।

पू.मनोहरदास बाबा कुछ दिनों से वृन्दावन से बाहर गए हुए थे। वस्तुतः बहिनजी उन्हीं की प्रतीक्षा में थी। वृन्दावन लौटते ही पू॰बाबा 2 अगस्त को पू॰सुशीला बहिनजी के साथ उन्हें देखने अस्पताल पहुंचे। पू॰ संतोष बहिनजी पूर्णतया सजग थी। बाबा का हाथ अपने हाथ में ले, दूसरे हाथ से उनकी कटि को छूती बहिन जी उन्हें एकटक देख रही थी। वाणी की शिथिलता के बाद अब पूर्ण शरीर में शिथिलता बढ़ती जा रही थी, मानों उनसे इहलोक से विदाई ले रही हों और उन्होंने आंखें मूंद ली। पू॰सुशीला बहन जी भी गंभीर सी पास ही खड़ी थी। अपने इन सुहृदजनों के सामने सामने वो गंभीर तन्द्रा में चली गई थीं। शाम तक उन्हें काल ज्वर ने आ घेरा जिसे डाक्टरों ने मलेरिया का नाम दिया। उसी रात स्थिति इतनी बिगड़ी कि आक्सीजन देनी पड़ी। अगले दिन संध्या को सभी को उनके जाने का भान हो गया। उनकी नाड़ी मंद थी, रक्तचाप भी माप से परे जा चुका था। लगभग सभी परिचित अस्पताल पहुंच चुके थे। संध्या ७.२५ पर सबकी ओर अपनी दृष्टि कर, सबसे मौन विदाई ले पू.संतोष बहिनजी के नयन जो ऊपर को चढ़े तो सदा के लिए उसी लोक के हो गए। नित्य लीलाधाम में प्रवेश कर उन्होंने अपने सान्निध्य से हम सबको वंचित कर दिया।

करुण मन से सभी ने राधानाम की धुन शुरू कर दी। थोड़ी ही देर में उन्हें अस्पताल परिसर से घर ले आए। पिछले चालीस दिन की अवधि में पू.बहिनजी ने सबको अपने बिछोह के लिए मानसिक रूप से तैयार कर दिया था, फिर भी उनकी लाडपगी सरस स्मृतियां मन को विह्वल कर रही थीं। पूरी रात उन्हीं स्मृतियों और संकीर्तन धुनि में बीत गई। ४ अगस्त की भोर से ही संतों, श्रद्धालुओं, साधकों और प्रियजनों का उन्हें श्रद्धांजलि देने आना शुरू हो गया। पू.देवी जी की देखरेख में अन्तिम समय के सब क्रिया कर्म सम्पन्न हो गए। पू॰भाईजी व राधाबाबा के प्रिय संकीर्तन "राधिका रमण अम्बुज नयन" के सुस्वरों से वातावरण गूँज उठा था। वृन्दावन का शायद ही कोई परिचित होगा जो उनके निकुंज गमनोत्सव में शामिल न हुआ हो। सभी वंशीवट के यमुना पुलिन पर उन्हें अंतिम विदाई देने एकत्रित हो गए थे। संकीर्तन करते करते उनकी शोभायात्रा वृन्दावन की वीथियों से होती हुई श्री बिहारीजी की दहलीज तक पहुंची, बिहारीजी की प्रसादी चादर ओर माला ओढ़ाई गई। श्रीराधावल्लभ जी के आगे कुछ पल रुक, श्रीराधादामोदर होते हुए रासमंडल पर पहुंच वहां के क्रियाकर्म संपन्न किए गए। सभी श्रद्धालु भींजे मन से पीछे पीछे चल रहे थे। इधर वंशीवट का यमुना पुलिन इन्हें अपने अंक में विश्राम देने को प्रतीक्षारत सा ही था। पू॰संतोष बहिनजी को, पू.बाबा से प्रारंभ करा, प्रिय कृष्ण (कुक्कू) ने अग्निदाह दिया। चहुंओर खड़े सभी प्रियजन अश्रुभरे नयनों से उन्हें विदाई दे रहे थे। पूरे समय पदगान और कीर्तन ने वातावरण को एक अद्‌भुत दिव्यता प्रदान कर दी थी।

साबिह समाले पथ निहाले, अस्सां भी ओत्थे जानां।
जिसका कीया, तिन ही लीया, होया तिस का भानां।।

प्रभु ने उन्हें अपने में लीन कर लिया, उनका जीना सफल हो गया हम सबने भी वहीं जाना है। उन्होंने भेजा था, उन्होंने बुला लिया, उनकी ही इच्छा सर्वोपरि है। (गुरु नानकदेव)

सिद्ध देह से सतत् प्रविष्टा,
दैन्य का जो कवच थी ओढ़े।
प्रिया प्रीतम के संग कुंज में,
आज लीला रत करति निहोरे।।
मधुर भावों का मृदु आलोडन,
सह न सकी और ये काया।

नीलमणि के प्रीति सिन्धु में,
हो विलीन ''उनको'' ही पाया॥
संदेश यही उनका जग को है,
जीवन जीलो ''उनके'' होकर।
उन्हीं पे निर्भरता हो केवल,
पा लोगे ''उनको'' खुद खोकर॥

प्रिया प्रियतम की इस विलक्षण गोपी को शत् शत् वंदन, कोटि कोटि प्रणाम।

स्मृति-संचयन

[१]

संस्मरण (पू॰ सन्तोष बहिनजी)

हरे राम हरे राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

श्री सन्तोषजी के विषय में जितना भी कहा जाये कम ही है। उनके सेवाभाव का एक प्रसंग याद आ रहा है।

श्री सन्तोषजी की माताजी सरदार परिवार की होने से श्री गुरु नानक देवजी की बड़ी भक्त थी। बहुत धार्मिक थी एवं सभी सन्तों को नानक भाव से देखती थीं। सन्तोषजी के वृन्दावन आने के बाद भी वे कई वर्षों तक वृन्दावन नहीं आईं। अपने पति के पधारने के बाद अपने भाइयों के पास रहने लगीं। परन्तु कुछ वर्षों बाद उन्हें पक्षाघात हो गया। सन्तोषजी के दोनों मामाओं ने उनकी सेवा में असमर्थता प्रगट की एवं उन्हें इनके पास वृन्दावन छोड़ गए।

श्री सन्तोष जी अपनी माँ की सेवा में जीजान से जुट गईं। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि जैसे भक्त भगवान की सेवा करता है वैसे ही तीन साल तक सतत माँ की सेवा बिना घृणा के स्नेहपूर्वक करती रहीं। साथ में सरलाजी की सेवा तो करनी ही पड़ती थी। पक्षाघात के रोगी की सेवा क्या होती है यह सभी जानते हैं। माँ की सभी शारीरिक क्रियाएें बिस्तर पर लेटे लेटे ही होती थीं। दिन में पच्चीस तीस बार सन्तोषजी को उनके कपड़ों की सफाई करनी पड़ती थी, वस्त्र बदलने पड़ते थे। सेवा करते हुए बहनजी ने कभी थकावट प्रदर्शित नहीं की। सदा हँसते हुए प्रसन्नता व्यक्त करती थीं एवं माँ को

भी विनोद भरे वाक्य सुनाकर हँसाने का एवं प्रसन्न रखने का प्रयत्न करती थी। जैसे माँ बच्चे की सेवा करती है वैसे ही बहनजी माँ की सेवा में सदा तत्पर रहती थीं। उनके कपड़े या बिस्तर से जरा सी भी दुर्गन्ध नहीं आती थी। दिन में पच्चीसों बार साबुन से कपड़े धोने से बहनजी की उंगलियों के नख गल गए थे घाव हो गये थे एवं वे स्वयं भी अत्यन्त क्षीण काय हो गई थीं। ऐसा लगता था कि माँ के पधारने के पूर्व ही बहनजी पधार जायेंगी। मैं रोज ही माँ को देखने बहनजी के यहाँ जाता था। मुझे देखते ही माँ कहती– ''देखो बाबा नानकदेव आ गए'' इनको कुछ खिला पिला। कभी-कभी माँ को खिझाने के लिए बहनजी कहतीं– ये कोई बाबा नानक नहीं है, ये तो मनोहरजी हैं, तो नाराज होकर जोर से कहती– ''तू अन्धी है तुझे दिखता नहीं।'' उनकी बात पर सन्तोषजी हँसती तो पंजाबी भाषा में गाली देते हुए कहती– ''खा खसमाना गोया।'' जब वे मुझे कुछ खिलाती पिलाती तो बड़ी प्रसन्न होती। हर वर्ष नानक जयन्ती पर मुझे बुलवाकर हलवा खिलवाती।

मुझे आयुर्वेद औषधियों की जानकारी होने से मेरे जरिये बहनजी ने माँ को महंगी महंगी ताकत की दवाइयां एवं हजारों रुपयों का सुवर्ण भस्म व मोती भस्म खिलाया जिससे उनका स्वास्थ्य काफी सम्भला रहा फिर भी धीरे धीरे माँ का शरीर क्षीण होता ही गया।

सन्तोषजी की इस प्रकार की सेवा देखकर मेरे मन में एक गलत धारणा बन गई कि यदि माँ पधार गई तो सन्तोषजी अतीव मोह के कारण बहुत दुःखी होंगी।

वह दिन भी आ गया। माँ पधार गई। मैं आश्चर्य से बहनजी की दशा देखता रहा। उनके मुख पर दुःख की एक रेखा भी नहीं आई। विधि विधानपूर्वक माँ का संस्कार प्रसन्नता से प्रारंभ कर दिया। स्नान करके रेशमी वस्त्र पहनकर बहनजी कीर्तन करती हुई एवं हमसे कीर्तन

कराती हुई अर्थी के साथ चल पड़ी। पानी घाट पर दाह संस्कार स्वयं बहनजी ने अपने हाथों से किया। अग्नि प्रज्ज्वलित होने पर चिता के सामने बहनजी स्थिरता से गंभीर मुद्रा में बैठ गईं। प्रसिद्ध कर्मकाण्डी एवं विद्वान पण्डित श्रीबलरामजी मिश्र को जो दाह संस्कार की क्रिया करवा रहे थे बहनजी ने अपने पास बुलाया और कहा– पण्डितजी! ''गीत गोविन्द के पद गाइए।'' पण्डितजी बहनजी का मुख देखते ही रह गये, उसास भरते हुए बोले– बहनजी! यह आप क्या कह रही हैं? बहनजी ने मुस्कराते हुए कहा– क्यों पण्डितजी! क्या हुआ। माँ तो चली गई उनकी दाह क्रिया हो ही रही है–इस समय भगवद गुणानुवाद गाने में क्या हर्ज है, आप तो गाइये। पण्डितजी बहनजी की स्थिति एवं सन्तता से परिचित थे ही, वे भी उनकी आज्ञा शिरोधार्य करके गीत गोविन्द के पद गाने लगे। बहनजी तन्मय हो गईं। आँख बन्द किये हुए भावाविष्ट स्थिति से पद के भाव में मग्न हो गईं। पद था– ''धीर समीरे यमुना तीरे बसती वने वनमाली...'' मैं भी तटस्थता पूर्वक बहनजी की स्थिति देखकर प्रसन्न हो गया। मेरा विचार सर्वथा गलत निकला। घर आने पर मैंने बहनजी की पीठ ठोकी व कहा–''बहनजी आप धन्य हो धन्य हो।'' इसके पश्चात दस दिन तक बहनजी ने रेशमी वस्त्र पहनकर ''श्रीगुरु ग्रंथ साहब'' का पाठ स्वयं किया। मैं प्रतिदिन पाठ सुनने जाता था। श्री सन्तोष बहनजी की महत्ता व सन्तता की आँखों देखी हुई एक झांकी मैंने प्रस्तुत की है। धन्य हैं बहनजी- जय राधे।

मनोहरदास

वेणुविनोद कुंज, वृन्दावन

***

[२]

भक्ति भक्त भगवंत गुरु, चतुर्नाम वपु एक।
इनके पद वन्दन किये नाशै विघ्न अनेक॥

हमारी संतोष बहिनजी वास्तव में भक्तिरूपा, भक्तस्वरूपा, भगवंतगुण सम्पन्ना, वास्तविक गुरु-पद प्राप्त थीं। भक्ति का प्रत्येक लक्षण उनमें ओत प्रोत देखा है, इसीलिए उन्हें पूर्ण भक्त कहना अतिशयोक्ति नहीं।

हमारी ऊषा बहिनजी उन्हें ''छोटी यमुनाजी'' कहा करती थीं। यमुनाजी के दर्शन-परसन-आचमन-स्नान से जीव निर्मल पावन होता है। भगवत कृपा ममता का पात्र बनता है। यही गुण बहिनजी में रहा है। उनके दर्शनमात्र से मन न जाने कैसा-कैसा द्रवित सा हो जाता था।

संत सेवादासजी कहा करते थे– ''बहिनजी अपार अगाध गुणों की रत्नाकर हैं- अवगुण खोजने पर भी नहीं मिलता, हम इनके लिए कुछ भी कहने में असमर्थ हैं।''

ऊषा बहिनजी इनके हाथ का बना भोजन कण जरूर लेती थीं, कहती थीं ''यह भाव का टुकड़ा है।'' और भी एक बात प्रायः कहती थीं ''कभी बहिनजी हमें छोड़कर चली गईं तो स्नेह का समुद्र सुख जाएगा।'' सो अब हम सब वास्तव में ठीक यही अनुभव कर रहे हैं।

बचपन से ही, कैसी-कैसी अलौकिक बातें बहिनजी के मुख से ही सुनी हैं, आश्चर्य होता है। यद्यपि उन्होंने जानबूझकर नहीं सुनायी, हरिचर्चा के प्रवाह में उनके द्वारा प्रकट हो गयीं।

जेहलम में मंदिर में श्रीराधाकृष्ण के दर्शन करते हुए, इनकी दृष्टि केवल श्रीकृष्ण पर ही स्थिर हो गयी, किशोरीजी को देखा ही नहीं। शीतकाल में श्रीकृष्ण के लिए बहुत ही सुन्दर-कोमल सा स्वेटर बुनकर ले गयीं, धारण भी करवा दिया, देखती रहीं, ठीक उसी समय

किशोरीजी ने किसी प्रकार इन्हें संकेत दिया कि मुझे तो दिया ही नहीं, तब इन्हें पता लगा कि श्रीकृष्ण के साथ किशोरीजी भी हैं, फिर उन्हें भी स्वयं बुनकर वैसा ही स्वेटर धारण करवाया।

एक बार बहुमूल्य जरी की पोशाक मंदिर में युगल सरकार के लिए बनवायी। मंदिर में धारण करवाने को ले गयीं। किशोरीजी ने बहिनजी से कहा, ''पहिले यह पोशाक तुम धारण करो– मैं बाद में धारण करूँगी।''

श्रीवृन्दावन धाम में आकर भी बहुत समय तक इन्हें यहाँ की बिल्डिंग इत्यादि दिखायी नहीं दीं। केवल श्रीवृन्दावन का वास्तविक स्वरूप ही दीखता रहा। यह तन्मयता, यह अटल श्रद्धा विश्वास, यह अलौकिक दृष्टि साधारण नहीं, पर इनका तो सहज-स्वभाव रहा।

संत निष्ठा, भक्तों में प्रीति असाधारण रही इनकी, कहती थीं। ''मुझे भगवान की लीला कथा से भी कहीं अधिक बढ़कर, भक्तों की गाथाऐं प्रिय लगती हैं।'' किसी भी सम्प्रदाय, किसी भी देश, किसी भी काल, किसी भी मत का कोई भी भक्त-संत हो, उसके प्रति इनकी श्रद्धा-निष्ठा-सम्मान सराहनीय था। उनसे अधिकारपूर्वक-दृढ़तापूर्वक अपनी रूचिकर भाव-विचारों को उनसे पूर्ति करवा लेती थीं- उनसे उनके अनुभवों को जो वह कभी प्रकट नहीं करना चाहते थे– इनके सामने प्रकट करने ही पड़ते थे। अनेक संतों के गुप्त अनुभवों को प्रकट करते इनके समक्ष हमने देखा-सुना है, कृपासिन्धुजी महाराज, करूणासिंधुजी महाराज, ललिताचरणजी महाराज, जगन्नाथ भक्तमालीजी और भी जिनके हम दर्शन न कर पाए–

एक बार की बात उन्हीं के मुख से सुनी-कहीं महात्मा गांधीजी, स्टेज से बोल रहे थे। उस समय बहिनजी १३-१४ वर्ष की होंगी, गांधी जी की वाणी से इतनी प्रभावित हुई कि स्टेज पर जाकर उनकी टांगों

से लिपट गयीं। गांधीजी ने इन्हें जबर्दस्ती उठाया। प्यार किया, बोले ''बेटी- क्या चाहिये तुझे।'' बोलीं- ''मेरे योग्य मुझे दो''- उन्होंने रामनाम-सत्य पालन और खादी-धारण करने का आदेश दिया- तभी से यह तीनों आदेशों का पालन करती रहीं।

संतों की सेवा-सम्मान शास्त्रों में वर्णित पढ़ी सुनी है। पर युक्तियुक्त आचरण मनसा-वाचा-कर्मणा एक देखा है तो इन्हीं में देखा है। सबकी प्रिय सबकी हितकारी, बिना भेदभाव के सभी की हितैषी- सबका प्रिय करना- चाहना-उदारता की साक्षात मूर्ति रही हैं- हमने इन्हें अपनी मां की सेवा- सरलाजी की सेवा सुश्रूषा करते देखा है- बेजोड़ उदाहरण है इनकी सेवा। सो कहाँ तक इनकी भक्ति-भक्त लक्षणों का वर्णन करें- अपार चरित्र है।

जब भी मिलतीं- बातचीत करतीं रामनाम महिमा-रामनाम की विह्वल पिपासा का वर्णन करतीं- अन्तकाल में- अन्तिम शब्द रामनाम महिमा वर्णन करते-करते बोलना बंदकर दिया।

भगवंत गुण भी इनमें प्रकट देखने में आए है- ऊषा बहिनजी के ठाकुरजी तो अनेक बातें इन्हें दिखाते-बताते रहे हैं- यह अपने घर में तुलसी का पूजन करके परिक्रमा कर रही थीं- ठाकुरजी इनके साथ-साथ परिक्रमा करते दीखे- एक बार अन्नकूट का भोग लगा रही थीं ठाकुरजी को इन्होंने आरोगते देखा, बाजरे का लड्डू रूचि से पाते देखा- लाल वस्त्रों के लिए शिकायत की कि ऊषाजी ने वस्त्र दे दिये। ऊन के वस्त्र पहिनकर, बहिनजी को दिखा दिये- ऊषाजी ने अभी तैयार नहीं किये थे।

कई घटनायें हमने ऐसी भी अनुभव की है कि ठाकुरजी ने बहिनजी के छद्मवेष में अनेक अनुभव करवाए।

किसी पर भी कोई कठिनाई आ पड़ी, बहिनजी के पास दौड़े आए, उनकी सहृदय वाणी से, उनके सान्त्वनापूर्ण व्यवहार से, हितैषी

उपायों से उस दुष्कर कठिनाई का निवारण सहज में ही होते पाया है। अब उनके जैसा दुखों को सुनने वाला, सान्त्वना देने वाला, उपाय बताने वाला, निवारण करनेवाला कोई नहीं दीखता। इस प्रकार भगवान के गुणों का प्राकट्य भी उनमें प्रत्यक्ष देखने को मिला है।

वह गुरुणाम् गुरु रही हैं- गुरु का सर्वोपरि लक्षण, जो जीव को ब्रह्म से मिलवा दे- परम लक्ष्य तक पहुँचा दे। बहिनजी में यह तत्त्व सहज स्वाभाविक रहा- वह गुरु-पद को प्राप्त हैं- चाहे अपने दैन्य के वशीभूत हुई किसी को भी दीक्षा प्रकट में न दे पायीं पर उनकी दीक्षा हमें उनसे हरक्षण-हरपल मिलती रही, सदा-सदा मिलती रहेगी।

हमारी ऊषा बहिनजी को सर्वप्रथम श्रीधाम में ''इन्हीं'' की प्राप्ति हुई, इन्होंने ही ऊषाजी को वृन्दावन के कोने-कोने के दर्शन करवाए, यहाँ के सभी संत महात्माओं से परिचय करवाया, श्रीवृन्दावनवास के लिए पूज्या बहिनजी के प्यार दुलारपूर्ण आश्रय में हम सब सदा-सदा इनके आभारी हैं-

नतमस्तक बहिनजी की-

– सुशीला

[३]

महद्जनों के विषय में कुछ भी लिखना एक प्रकार से उनका मूल्यांकन करने जैसा है, जिसका अधिकारक्षेत्र महान पुरुषों को ही है। सभी ने पू॰ संतोष बहिनजी के व्यक्तित्व की महानता को एक स्वर से स्वीकार किया है। वे महान थीं, आजीवन महान बनी रहीं.... शत् शत् नमन सहित विनीत।

– विजय भाई

* * *

[४]

"गुणों का सजीव स्तवक"

करूणा, ममता, स्नेह, समता, उदारता, निस्पृहता, वैराग्य, विवेक, कष्ट-सहिष्णुता, परदुःख कातरता, अपने सिद्धान्तों के पालन में दृढ़ता और सर्वोपरि ठाकुर एवं उनके जनों-सन्तों के प्रति अटूट श्रद्धा, सेवा आदि-आदि अनेकानेक गुणों का सजीव महकता स्तवक रूप परम पूज्या, श्रद्धेया, प्रातः स्मरणीया हमारी, हमारी ही नहीं, प्राणीमात्र की सच्ची सुहृदा, हितैषिणी, सहायिका श्रीश्री सन्तोष बहनजी आज हमारे दृष्टि-पथ से ओझल हो गईं परन्तु जो आजीवन श्रीवृन्दावन की सीमा से बाहर गई ही नहीं कभी, वे अब भी अन्यत्र कैसे जा सकती हैं! वे सदा-सदा यहीं विराजित होकर हमें देख रही होंगी। वे अब भी हमें सत्प्रेरणा देकर सत्पथ पर चलने की सामर्थ्य प्रदान करने में समर्थ हैं।

वे बिना अपने-पराए के भेद से, (वास्तव में उनकी दृष्टि में कोई 'पराया' था ही नहीं) सदा ही उन्मुक्त कण्ठ से अलौकिक वात्सल्यपूर्ण आशीर्वाद देतीं, जो आज भी कानों में गूँजता है। 'प्रभु अपार सुख दें; निरोग रखें; अपने चरणों का प्यार दें।'

'अपार सुख' की परिभाषा एवं अनुभूति एक सन्त हृदय ही जानता है, जो केवल श्रीयुगल सुन्दर के सान्निध्य-सेवा-भजन में ही निहित है, जिसे वे स्निग्धावलोकन मात्र से प्रदानकर सकते हैं। परम उदार बहनजी चाहती थीं कि वही सुदुर्लभ 'अपार सुख' मिले, हमें भी।

वे इस एक पक्ष की ही बात कहती हों, सो नहीं। वे कहतीं,'प्रभु अपने चरणों का प्यार दें।' वे करुणामय स्वामी ऐसी कृपा करें कि हमारे हृदय में उनके चरणकमलों के प्रति प्रीति हो, हमारी समस्त रागात्मक भावनाएँ उन्हीं को समर्पित हों, वे ही एकमात्र हमारे आश्रयस्थल हों।

इस प्रकार उभयांगी प्रीति की अनोखी आशीष सहज ही उनके हृदय से उमड़ कर आती।

यही नहीं, जहाँ मानव जीवन के चरम लक्ष्य प्राप्ति सम्बन्धी स्नेहयुक्त वचन बोलतीं, वहाँ 'निरोग रखें' कहकर, इहलौकिक सुखों में 'पहला सुख निरोगी काया' मिले– यह कामना भी करतीं क्योंकि हम जैसे देहासक्त साधारण जीव रोग-ग्रस्त होने पर बस उसी की सेवा और रोग- निवारण के उपायों में जी-जान से लगकर अपने लक्ष्य को भूल जाते हैं।

पूज्या बहनजी की अद्भुत सामर्थ्य थी अपनों के मन को जान लेने की, प्रतिक्षण ठाकुर के सामीप्य की एवं ठाकुर के उनके प्रति प्रगाढ़ ममत्व की। एक छोटी सी बात सहसा स्मरण हो आई– श्रद्धेया बहनजी की आँख का आपरेशन, नेत्र-विशेषज्ञ परम कुशल डा॰कुलश्रेष्ठजी ने बहनजी के घर पर ही किया था। उन दिनों उनकी सेवा में रहने का सौभाग्य-सुअवसर मिला था। सो एक दिन नेत्र-परीक्षण कराने के लिए हम उनके क्लीनिक पर मथुरा गए। वहाँ अनुमान से अधिक समय लग गया। अचानक बहनजी बोलीं– मैंने तेरे ठाकुर से पूछ लिया है; वह कह रहे हैं, 'नहीं, भूख नहीं लगी।' मैं चकित रह गई- भोग का समय हो रहा था, मेरे मन में आया होगा- यह सोचकर उन्होंने पहले ही समाधान कर दिया।

साधन के नाम पर वे 'नाम' पर ही बल देतीं सर्वाधिक। कहतीं– 'नाम निरादर जिन करो, छिन-छिन प्रति दुलराओ।' भक्त चरित्र सन्त-गाथा, अध्ययन को विशेष सहायक मानतीं, इस पथ पर चलने के लिये। वे अपने पास आगन्तुकों का स्वागत भी, कुशल-क्षेम पूछने के पश्चात् भक्त-भगवान की वार्ता सुनाकर ही करतीं। एक क्षण भी व्यर्थ न गवाँकर अपने आचरण से शिक्षा देतीं।

अब, उन्हीं से प्रार्थना है– वे हमें भी श्रीहरि चरणों में ही अनुरक्त रखें। आलस्य-प्रमाद-व्यर्थ चिन्तन से बचाकर मानसिक चेतना-जागृति प्रदान करें, जिससे हृदय की शुष्कता दूर हो और इसमें सरसता का संचार हो।

कृपा-कोर की याचना और प्रतीक्षा में, सादर सविनय,

– विनीत दुलारी

[५]

"ममता की छाया"

परम ममतास्पदा बहिन श्रीसंतोषजी के श्रीचरणों में सादर वन्दन। उन उदार हृदया बहिनजी के ममत्व की छाप मेरे मानसपटल पर है। सन् १९७५ के ग्रीष्म में मैं श्रीगिरिराज भगवान की परिक्रमा के लिये श्रीगोवर्धन धाम गया था। कई स्वजनों ने टिप्पणी की कि १०८ परिक्रमा के लिये यह ग्रीष्मकाल उचित नहीं है, पर मेरी कुछ विवशता थी। इसी ऋतु में ही समय मिल पाता था। परिस्थितिवशात् ग्रीष्म में ही जाना पड़ा। अब बहिनजी को मेरी चिन्ता लगी रहती थी कि यह परिक्रमा-अनुष्ठान निर्विघ्न पूर्ण हो जाय और इस अनुष्ठान के पूर्ण होने में उनके ममत्व ने बड़ा सहयोग दिया। परिक्रमा-पथ रेतीला था तथा काँटे कंकड़ भी थे। रेतीली राह में परिक्रमा करने से पैर के तलवे घायल हो जाया करते हैं। काँटों-कंकड़ की परेशानी थी ही। तलवों पर लगाने के लिये एक विशेष प्रकार की पट्टी की व्यवस्था बहिन जी ने की। पट्टी के अलावा औषधि एवं आहार की सँभाल वे समय-समय पर करती रहती थीं। बहिनजी की ममता ने जो छाया दी, वह अविस्मरणीय है।

बहिनजी की ममता की छाया अति विस्तृत थी। न जाने कितने संतों-साधकों-सज्जनों-स्वजनों को इस सुखद छाया के नीचे विश्राम

मिला है। व्यक्ति परिचित हो या अपरिचित, सभी के प्रति बहिनजी का करूणामयी स्रोत सदा-सदा बहता ही रहता था। किसी का कष्ट वे देख नहीं पाती थी। बहिनजी की सेवा-भावना ऐसी निराली थी। सेवा-भावना एवं विनम्रता से उनका संत-जीवन समलंकृत था।

गोरखपुर स्थित गीता वाटिका की दिव्य भाव-विभूति हैं परम पूज्य बाबूजी (संत प्रवर श्रीकृष्णस्वरूप श्रीहनुमान प्रसादजी पोद्दार) एवं श्रीराधा बाबा। अनेक आत्मीयजन वृन्दावन की यात्रा करने के पहले आशीर्वाद लेने के लिये पूज्य बाबा के पास आया करते थे। उन वृन्दावन-यात्रियों से पूज्य श्री बाबा कहा करते थे– "वृन्दावन जा रहे हो तो श्रीसंतोष जी एवं श्रीसरला जी से अवश्य मिलना। वे श्री वृन्दावन धाम की एक दर्शनीय मूर्ति हैं।"

पूज्य श्री बाबा की बहिनजी के प्रति ऐसी आत्मभावना थी और बहिनजी की भी पूज्य श्री बाबा के प्रति अनोखी श्रद्धा-भावना थी। बहिनजी के सामने जब भी कोई बाधा अथवा अड़चन आती थी, तब वे श्री ठाकुर जी (परमादरणीय श्रीघनश्याम दासजी शर्मा) के द्वारा अपनी समस्या का निवेदन करवाया करती थीं और पूज्य बाबा द्वारा कभी प्रत्यक्ष या कभी परोक्ष रूप से उसका समाधान सुलभ हो जाया करता था। एक बार पूज्य श्री बाबा ने बहिनजी को स्वप्न में दर्शन देकर किसी एक ऐसे संत से दीक्षा लेने से निवारण किया था, जो भावी जीवन के लिये उपादेय नहीं था। पूज्य श्रीबाबा के लिये बहिनजी के अन्तर में श्रद्धा का भाव सदा उमड़ता रहता था। मैं जब भी वृन्दावन से गोरखपुर आता था, बहिनजी सदा ही पूज्य श्री बाबा के लिये इलायची तथा भिक्षा के लिये कुछ दिया करती थीं।

बहिनजी के व्यक्तित्व में एक चुम्बकीय आकर्षण था। इनके पास बैठना और बैठे-बैठे उनके श्रीमुख से साधु-संतों की भावपूर्ण

चर्चा सुनना। इस चर्चा के सुनने में एक-दो घंटों का समय बीत जाना सहज था। संत चर्चा को सुनने का लोभ उनके पास जाने के लिये बाध्य कर देता था। संतों के प्रेरक वृत्तों का उनके पास अक्षय कोष था। कभी उन संतों की चर्चा होती, जिनके सम्पर्क में बहिनजी को रहने का अवसर मिला था और कभी उन संतों की चर्चा, जो उन्होंने कहीं सुनी थी अथवा कभी पढ़ी थी। प्राचीन संतों के, आधुनिक भक्तों के और सूफी-फकीरों के रोचक प्रसंग उन्हें खूब याद थे। कभी भक्तों-संतों के आराध्य ठाकुर के अनुग्रह के या प्रीति के प्रसंग सुनाया करती थीं। इन प्रसंगों को सुनने का लोभ सीमातीत था। जब कभी वृन्दावन की यात्रा होती थी तो बहिनजी के पास दर्शनार्थ अवश्य जाता था। बहिनजी का सानिध्य जीवन में प्रेरणादायक था।

बहिनजी के जीवन का स्वरूप ही प्रेरणा का स्त्रोत था। केवल कथनी ही नहीं, उनकी करनी और उनकी रहनी जन-जन को संत-जीवन अंगीकार करने के लिये प्रेरित किया करती थी। साधारण परिवेष में बहिनजी महान संत थी। वह महानता ऐसी थी कि किसी को उस महानता का आभास न मिल पाये। सामान्य से लगने वाले व्यक्तित्व में एक असामान्य संतत्व छिपा हुआ था। ऐसी महाभागा बहिनजी की स्मृति से अन्तर अभिभूत है। संतोचित जीवन को अंगीकार करने के लिये चुपचाप प्रोत्साहन देनेवाली महाभागा श्रीसंतोष बहिनजी के पावन चरणों को, उनके पावन जीवन को और उनकी पावन जीवन-शैली को बार-बार प्रणाम।

– श्रीराधेश्याम बंका जी, गोरखपुर

***

[६]

"ब्रज की दिव्य विभूति"

ब्रज की एक दिव्य विभूति। तुम कहाँ चली गई? हमारे सामने से देखते ही अन्तर्हित हो गई। कहाँ गई वे हमारी परम स्नेहमयी रस की अगाध स्त्रोतस्विनी। तुम कहाँ हो? अपने रूप वारिधि की प्रणयपगी क्रोड़ में, उनके सरस सानिध्य में, तुम तरल तरंगिणी सी, प्रेम वारिधि की चपल तरंगों में रसलीन हो गई, श्रीयुगल के अमित प्यार-दुलार में मञ्जित हो गई।

कैसी थी पू.बहिनजी। श्रीयुगल का प्यार उनके हृदय में निरन्तर हिलोरें लेता रहता था, उसी की कोई रसमय बिन्दु हम तक भी उचट कर आ जाती थी।

उनके दर्शन करने प्रायः उनके पास जाते थे। उन्होंने अपने चरण कभी छूने नहीं दिये। हम अपना शीश उनके समक्ष झुका देते तो सिर पर हाथ रख देती, कहतीं- ''प्रभु जी अपने चरणों का प्यार दें, शरीर निरोग रहे, प्रभु जी अपना अमित प्यार-दुलार प्रदान करें।'' उनके आशीर्वाद को पाकर हम सब गदगद हो जातीं।

पू.बहिनजी ने लगभग ६० साल श्रीवृन्दावन वास किया। उनका जन्मस्थान 'जेहलम' (वर्तमान पाकिस्तान) था। यह एक परम धनाढ्य परिवार से सम्बन्ध रखती थीं। ये १९४२ में ही श्री वृन्दावन आ गई थीं। पू.श्रीसरला बहनजी भी १९४८ में इनके पास आ गई थीं। इन्हीं के साथ रहीं। इन्होंने उनकी अहर्निश सेवा की। बहिनजी उनको गोपीभाव से ही मानती थीं। उनके सामने अपने सुख-दुख का इन्हें भान ही नहीं होता था। पू.सरला बहनजी १९९६ में 'श्रीनिकुंज लीला' में प्रवेश कर गईं।

पू.बोबो १७ नवम्बर १९५९ में जब श्रीवृन्दावन आईं तो सर्वप्रथम इन्हीं के पास आईं। उन दिनों पू.बहिनजी श्रीगोपीनाथ बाजार में रह रही थी। उनको सहसा आये देखकर बहुत प्रसन्न हुईं और बोलीं कि "मैं देख रही हूं, तू अकेली नहीं है तेरे साथ श्रीयुगल भी विराजमान है।" पू.बोबो कुछ दिन इन्हीं के पास रहीं। श्रीवृन्दावन की सब स्थलियाँ पू.बहिनजी ने ही पू.बोबो को दिखाईं। १९६१ में पू.बोबो के साथ उमा और मैं पू.बहिनजी के यहाँ सप्ताह भर रहे। इन दिनों में उनका अमित प्यार-दुलार मिला। उनके स्नेह का वर्णन नहीं हो सकता। निरन्तर हरिचर्चा में ही समय सार्थक होता रहा। बहुत अच्छा लगता था।

सन्तों के प्रति उनकी अनन्य निष्ठा थी। श्रीवृन्दावन के अनेक सिद्ध सन्तों- श्रीगौरांगदास बाबा, श्रीरामदास बाबा, पंडित बाबा, श्रीउड़िया बाबा, परम पूजनीय श्रीबालकृष्णदासजी के निकट सम्पर्क में रहीं। नित्यप्रति इन सन्तों के सत्संग में जाने का नियम था। सभी सन्तों का चरणोदक, सभी स्थलियों की पावन 'रज' अपने पास रखती थीं। स्वयं भी उसका सेवन करती थीं, हमें भी प्रदान करती थी।

पू.बहिनजी करूणा की मूर्ति थीं। प्राणीमात्र के लिये उनका मन करूण हो जाता था। यथाशक्ति सबकी सेवा भी करती थीं। वे १९९० में बड़ी कुंज, हमारे पास भी रहीं। समीप रहने से उनका अधिकाधिक प्यार हमें मिला। उनका करूणा का स्वभाव अद्वितीय था। एक दिन कबूतर बराँडे के बल्व पर बैठ गया। उसके पंजों से बल्व टूट गया। पंजों में खून लग गया। वह बरांडे में घूम रहा था, पू.बहिनजी बोलीं- "देख ले पांव में चोट लग गई न? तू माना ही नहीं।" मैंने सोचा- बहिनजी किससे बोल रही हैं धीरे-धीरे फिर देखा- अरे! कबूतर को कह रही हैं, मैं विस्मित रह गई उनके करूणामय स्वभाव को देखकर।

धन्य हैं ऐसे सन्तचरण। हम कितने सौभाग्यशाली हैं जो लगभग ४० साल उनके सानिध्य सुख में रहे।

अब 'उनकी महिमा', 'उनकी स्मृति' कैसे भुलाई जा सकती है। वे ३ अगस्त, २००४ को सदा-सदा के लिये 'श्रीनिकुंज लीला'' में लीन हो गईं।

उनको मेरा शत-शत नमन। उनकी स्नेहाकांक्षिणी,

– दर्शन गुप्ता, वृन्दावन

[७]

"अभूतपूर्व सामर्थ्य"

परम पूज्या संतोष बहिनजी वृन्दावन का एक महकता पुष्प थी जिसकी सौरभ से अनेकानेक भक्तजन सौरभान्वित हुए। प्रेम की तो वह साक्षात् मूर्ति थी। जो उनके संसर्ग में आया उन्हीं का हो गया। जिन्हें उनके श्रीचरणों का सान्निध्य प्राप्त हुआ, वे ही जानते हैं, उनकी छत्रछाया कितनी शीतल मधुर प्रेमपद और सुखमयी थी। उनका प्यार भुलाया नहीं जा सकता। जीवमात्र के दुःख से वे कातर हो जाती थी। एक बार ऊषा बहिनजी की बहन उत्तम का पत्र आया कि उनके पति प्रेम जी की हालत बहुत गंभीर है। सुनते ही पू.संतोष बहिनजी ने हथेली में जल लेकर संकल्प कर दिया। "मेरी आयु उन्हें लग जाए।" देखने वाला दृश्य था। मुख पर दिव्य तेज चमक रहा था, वह अपने में नहीं थी। कुछ दिन बाद उनके स्वास्थ्य सुधार का पत्र आ गया। अभूतपूर्व समर्थ थी उनमें।

जब कभी उनके पास जाते, गद्गद हो शत् शत् आशीर्वादों की झड़ी लगा देतीं। तुम्हें सुख मिले, भक्ति मिले। तुम ऊषा जी की हो सो ठाकुर की भी अपनी हो। वह तुम्हें निरोग रक्खें, अपने चरणों की सन्निधि में रखे।" ऐसा निःस्वार्थ स्नेहसिक्त हृदय अब कहां मिलेगा।

उन्हीं ममतामयी करूणामयी अनुरागमयी बहिनजी के चरणों में शत शत प्रणाम। उन्हीं की कृपा, ममतापूर्ण दृष्टि की याचिका।

– उमा गुप्ता, वृन्दावन

[८]

सबके प्रिय सबके हितकारी।
सुख दुःख सरिस प्रसंसा गारी॥

श्रीमद्भागवत, रामचरित मानस आदि सद्ग्रन्थों में सन्तों के जो गुण वर्णित हैं, वे सभी पुञ्जीभूत होकर सन्तोष बहिनजी में अधिष्ठित थे। उनकी कोमल-कान्त शब्दावली सामने वालों को मानो सम्मोहित कर लेती थी। मधुसिक्ता जिह्वा से सदा अमृत वर्षण करती रहती थी। दीनता, नम्रता, और अमानिता की साक्षात् मूर्ति थीं। "गुन प्रगटै अवगुनन्हिं दुरावा" का सिद्धान्त उनमें दृढ़मूल था। दूसरों के गुणगान तथा अपने दोषों, त्रुटियों, कमजारियों का बखान करती रहतीं। यदि उनके सामने उनके किसी गुण का नाम भी लेते तो वे इतनी दीन हो जाती कि उसका उदाहरण नहीं। गोस्वामी तुलसीदास की उक्ति–

तुलसी मीठे वचन ते सुख उपजै चहूँ ओर।
वशीकरन यह मन्त्र है तज दे वचन कठोर॥

उन पर पूरी-पूरी घटती थी।

वे स्वयं तो जो कुछ उनके पास होता दूसरों को देकर अति प्रसन्न होतीं, परन्तु किसीसे कुछ लेना नहीं चाहती थीं। यदि कोई फल मिष्ठान्न उनके पास ले जाता तो उसी समय उसे ठाकुरजी को अर्पण करके लाने वाले को ही लौटा देती अथवा बाँट देती। एकबार मैंने गोरखपुर से कुछ पुस्तकें मंगाकर उन्हें भेजीं तो स्वयं रुग्नावस्था में

चलने में असमर्थ होते हुए भी पुस्तकों का मूल्य देने रिक्शा में मेरा घर ढूँढकर आ गईं और मूल्य की धनराशि मुझे देकर ही रहीं।

मैंने डॉक्टर होने के नाते उनके शरीर का परीक्षण कईबार किया तो देखा कि उनके शरीर में शास्त्रों में वर्णित महापुरुषों के लक्षणों में से अनेक लक्षण विद्यमान थे। अतः वे जन्मना महान थी। मैं उनको औषधियाँ देती अथवा उनके रोग के निदानार्थ कोई सेवा करती तो वे यही आशीर्वाद देती कि "तुम्हारा स्वास्थ्य बना रहे–तुम्हें कोई रोग न सताये" मैं कहती कि यह क्या आशीष देती रहती हो यह कहा करो कि "तुम्हारा भजन पुष्ट हो।" तो वे कहती कि मैं तुम्हें सत्य कहती हूँ और यह व्यावहारिक बात है और निजी अनुभव के आधार पर कहती हूँ "कि जब शरीर स्वस्थ नहीं होता, कोई रोग सताता है अथवा कोई वेदना होती है, तो भजन नहीं बनता। जिनका बनता है उनका बनता होगा पर मेरा तो ध्यान शारीरिक पीड़ा में बार-बार जाता है। भजन में व्यवधान पड़ता है। इसलिये मैं तुम्हें स्वस्थ रहने का आशीर्वाद देती हूँ कि शरीर ठीक रहेगा तो भजन बनेगा।" वस्तुतः वे स्वयं देहातीत थीं।

ऐसी देहातीत पू॰ बहिनजी को शत् शत् प्रणाम्।

– डॉ॰ उर्मिला कपूर
एम.डी, डी.जी.ओ.

***

[९]

"परदुःख द्रवहि सन्त सुपुनीता"

परम स्नेहमयी, परम ममतामयी, करूणा की साक्षात प्रतिमा, दूसरे के दुःख से कातर होने वाली हमारी पू.सन्तोष बहिनजी थी। 'थीं' शब्द लिखकर कुछ अच्छा नहीं लगा। ऐसे महान सन्त कहीं जाते नहीं- सदा बने रहते हैं- पर हमारी दृष्टि पथ में नहीं रहते। पू.बहिनजी भी यहीं इसी दिव्य, पावन वृन्दावन धाम में प्रिया-प्रियतम के संग हैं पर हम उन्हें देखने में असमर्थ हैं। हम उन्हें खोज भी नहीं सकते- हमारी खोज की सीमा से भी परे हैं वे।

उनकी करूणा की अनेक कहानियाँ है। केवल सम्पर्क में आने वाले भाई-बहिनों के दुःख से ही द्रवित हों ऐसा नहीं है। छोटे बड़े सभी जीवों के लिये समान भाव से बेचैन हो जाती थीं। किसी के भी दुःख को देखकर या सुनकर ऐसे तड़प उठती कि अभी इसी क्षण कैसे इसका कष्ट दूर कर दूँ। तन, मन, धन से उसकी सेवा में जुट जाती। गोपीनाथ बाजार वाले घर में जब रहती थीं तब एक कोढ़िन स्त्री की तन-मन से सेवा की थी। पू.बहिनजी जैसा परदुःखकातर और कौन हो सकता है।

पू.बहिनजी में दैन्य और विनम्रता इतनी ज्यादा थी कि कभी किसी को प्रणाम नहीं करने देती थीं। जब भी हम उन्हें जय राधेश्याम करते तो प्यार से हमारा हाथ पकड़ लेती और कहती ''प्रभु जी अपार सुख दें, अपने चरणों का प्यार दें, निरोग रखे।'' उनके यह हार्दिक आशीर्वाद मन-प्राणों को पुलकित कर देते। उनके ये हृदय-स्पर्शी आशीर्वाद जब भी याद आते हैं या उनके अपनत्व, प्यार-दुलार की जब याद आती है तो मन बैचेन हो जाता है। सबके दुःख दूर करने

वाले, सबको सुख देने वाले ऐसे महान सन्त सबको छोड़कर क्यों चले जाते हैं?

इनके अपनत्व की भी सीमा नहीं थी। जब वह अस्पताल में भर्ती थीं- हम लोग प्रायः रोज उन्हें देखने जाया करते थें एक बार किसी कारणवश मैं कई दिन उन्हें देखने न जा सकी। जब गई तब हाथ जोड़कर मैंने उन्हें 'जय राधेश्याम' की। सदा जिस प्यार दुलार की दृष्टि से वह देखा करती थीं- वैसा नहीं किया और जोर से मेरे हाथ को झटका दिया, बोलीं भी नहीं। मैंनें कई बार कोशिश की पर हर बार झटका देकर मुझे दूर कर दिया। फिर गुस्से में खूब बोली। उनकी बात स्पष्ट तो समझ नहीं आई- पर उनकी मुख मुद्राओं से ऐसा अनुमान हुआ कि वह नाराज हैं और कह रही हैं कि इतने दिनों में तुझे अब फुर्सत मिली यहाँ आने की। जब मैंने उन्हें न आने का कारण बताया तब शान्त हुई और फिर उसी स्नेहमयी दृष्टि से अवलोका और कहा अब जल्दी आंना।

मेरे मामा का लड़का विजय देहली से पू.बहिनजी को देखने आया तो उसे यही कहती रही कि तू इतनी देर में क्यों आया। पहले क्यों नहीं आया। इसी विजय को जब सबसे पहली बार पू.बहिनजी ने देखा- तब पू.ऊषा बहिनजी से पूछा कि यह बालक कौन है। सिर से पाँव तक पूरा सात्विक है। ऐसी थी उनकी पारदृष्टि।

हम अभावग्रस्त जीवों की वह गति थीं। वह पहले जीवनकाल में भी सुखसागर में निमज्जित थीं और अब उससे कहीं अधिक अथाह सुख संदोह में मज्जित हैं। अभावग्रस्त तो हमें छोड़ गई हैं- उनकी, उनके प्रिया-प्रियतम की इच्छा सर्वोपरि है।

– विमला कपूर, वृन्दाबन

[१०]

"सबहिं मान प्रद आपु अमानी"

दैन्य की मूर्ति बहनजी की मधुर स्मृति से कण्ठ अवरुद्ध हो जाता है। और हृदय द्रवित हो जाता है। श्री श्री चैतन्य प्रभु- श्रीमुख निसृत शिक्षाष्टक का तृतीय श्लोक, "तृणादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुना। अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरि।" भलीभांति उन पर घटता था। तृण से भी अधिक नम्रता, उनमें भरी हुई थी। यदि कोई उनके चरण छू ले तो वे सिर के बल उनके पैरों में गिर पड़ती थी। श्रीराघवेन्द्र सरकार जब अनेक उत्सुक ऋषि मुनियों की उपेक्षा करके दीनता की साक्षात मूर्ति शवरी के आश्रम पर गये तो निरभिमान पूर्वक शबरी यही बोली–

तव दास्य दासानां शत संख्योत्तरस्य वा।
दासीत्वे नाधिकारोऽस्तिकुतः साक्षात बैवहि॥

इसी प्रकार बहिन जी भी साधना की सर्वोच्च स्थिति में होते हुए भी सदा सदा अपने प्रति 'सर्वविधि अपात्रा' 'साधना हीना' भक्ति रहिता' आदि शब्दों का प्रयोग करतीं। दीनता-वश वे प्रायः कहा करती थीं कि "मैं तो उस धोबी के कुत्ता जैसी हूँ, जो न घर का न घाट का होता है।" मैं विनोद में कहता, "जो कुत्ता धोबी को प्यारा होता है वह घर की मौज उड़ाता है, और घाट पर उसे धोबी का प्यार दुलार मिलता है। अतः आपके तो दोनों हाथों में लड्डू है।" तो एकदम मेरे पैरों पर गिरने का प्रयत्न करतीं। ऐसी थी तृण से भी अधिक नम्रता उनमें।

सहिष्णुता- सहनशीलता की तो पराकाष्ठा थी उनमें। उनके प्रति कोई ऊँचे स्वर में कोई बोले, कठोर वचन बोले अथवा कोई उनका हानि पहुँचाये तो उसे बुरा भला न कहकर अपने ऊपर अपराध का आरोप कर लेती। परदोष दर्शन तो वे स्वप्न में भी नहीं करतीं। पर

उसके प्रति कठोर शब्द कभी नहीं बोलती "पुरूष वचन कबहूँ नहि बोलहि," परनिन्दा न कभी करतीं न सुनतीं। संसारी बातें न करतीं सुनतीं। जब संसारी व्यक्ति उनके पास जाता तो वे भांप लेती कि यह लोक वार्ता करेगा अतः त्वरित गति से ग्रन्थ खोल लेती, विशेष करके भक्त चरित्र की कोई पुस्तक हस्तगत कर आगन्तुक को सुनाने लग जाती। इस प्रकार किसी को ग्राम्य वार्ता करने का अवसर ही नहीं देती थी। दूसरे सबको अति मान देती थी पर स्वयं किसी से मान नहीं लेती। कोई उन्हे मान देने का प्रयत्न करता तो कहने लगतीं, "आप मुझे नीचे मत धकेलो, मैं तो पहले ही बड़ी पतिता हूँ आप तो महान है। मुझे आशीर्वाद दीजिये– मेरा कुछ भजन बने" इत्यादि इस प्रकार निश्चला-भक्तमती भजन परायणा- अहर्निस हरि नामामृत- सिक्ता होने पर भी अपने लिए मानप्रद शब्दों का प्रयोग किसी को नहीं करने देती थीं। ऐसी बहिनजी के चरणों में पुनः पुनः प्रणाम।

– बाबा श्यामरमण दास जी

* * *

[११]

"परमभक्ता-संतोषजी"

पू॰ बहिनजी मेरे पास १४ वर्ष इस घर में रही। परम भक्त थी। बहुत अच्छी संत थी। निश्चय ही उन्हें ठाकुर प्राप्ति हो चुकी थी। कुछ तो बात थी, जो इतने बड़े-बड़े संत उन्हें प्रणाम करने आते थे।

– अमीचन्द जी

* * *

[१२]

"वृन्दावन-दर्शन"

पू.संतोषजी के साथ एक लम्बी अवधि तक सामीप्य रहा। उन्हें बहुत समीप से देखा। ढेर सारी बातें मन में उमड़ रही हैं कितनी ही घटनाएं आंखों के आगे घूमने लगी हैं। क्या क्या लिखूं। बहन जी का तकिया कलाम था। ''जिक्रे खुदा बहुत देखा, खौफे खुदा नहीं देखा।'

एक बार सरलाजी को बहुत तेज बुखार था। आप दवाई लेने गई। बहुत तेज चलती थीं। वापस लौट रही थीं कि लोई बाजार में श्री चैतन्य महाप्रभु की झांकी निकल रही थीं। ये महाप्रभु की झांकी अवलोकने में ऐसी बेसुध हो गई कि सरला जी की बीमारी, दवाई कुछ याद न रहा। करीब आधा पौना घंटा बाद याद आते ही घर की ओर दौड़ी। सोचा सरला तो बेहोश ही हो गई होगी इतनी तेज बुखार था, पर नटवर का कौतुक। सरला जी स्वस्थ सी बैठी थीं।

उन दिनों वे दरवाजे पर कुंडी नहीं लगाती थी। यही आशा रहती कि न जाने कब बिहारीजी हमारे पास आएं- बंद दरवाजा देख वापस न लौट जाएं। उनका मन बहुत ही सुन्दर था। इन दोनों को लक्ष्य कर एक संत कहते थे ''सरल बनो और संतोष रखो तो यह राह सुगमता से पार हो जाएगी।'' सरला जी उनकी अभिन्ना थी, जेहलम में मन्दिर में उनसे भेंट हुई थी। वो गा रही थीं। ''तेरे कारण सांवरिया जोगन बन जाऊंगी, वृन्दावन की कुंजगली में......'' पूरी लाइन मुझे याद नहीं। अंततः दोनों वृन्दावन पहुंच गईं। शुरू शुरू में पैसे की बहुत ही तंगी रही। भिक्षा ही करती थीं। कभी-कभी गेहूं, बाजरा और जुआर का आटा मिल जाता। इनका ठाकुर को रूखा सूखा भोग लगाने का मन न करता। एक दिन सरला जी को पता चला तो बहुत नाराज हुई, बोलीं- ''जो ठाकुरजी ने दिया है वो ही तो भोग लगाएंगे।'' तब से ये जो भी मिलता वो ही भोग लगाती।

एक बार ये कहीं गई हुई थी। वापस आई तो सरला जी दरवाजे पर बैठी गा रही थीं'' द्वार खड़ो आंधड़ो भिखारी।'' ये लाईन वे बार-बार गा रही थी और संतोष जी चुपचाप आंसू बहा रही थीं। रात को स्वप्न में गैरुवा वस्त्र पहने एक साधु बाबा दिखे और कहा- ''कौड़ी को मौसमी के रस में घिसकर काजल की तरह आंख में लगाओ, आंखें अच्छी हो जाएगी'' इन्होंने अगले ही दिन सब तैयारी कर ली। पर सरलाजी बोली- ''बिहारीजी ने इतने सारे लोगों को आंखें दी तो मुझे भी दे सकते थे। नहीं दी तो इसमें भी कुछ राज होगा। इतने सारे आंख वालों ने ऐसा-ऐसा क्या कर लिया जो मैं नहीं कर सकती- भजन ही तो लक्ष्य है उसके लिए आंखों की क्या जरूरत है।''

आधी-आधी रात तक यमुना तट पर बैठी रहती थीं। यमुना जल नीला, ठाकुरजी भी नीले- यहीं ध्यान करती रहतीं। औरों के मन की दशा भी इनके मन में उजागर हो जाती। अक्सर बता भी देतीं। आज आप इस जगह, ऐसा-ऐसा ध्यान कर रहे थे न। ऊषाजी के व राधा बाबा के जाने के पहले ही उन्हें उनके पधारने का दिख गया था।

सन् १९७० में जब हम तीनों बहनों वृन्दावन आईं और अपने गुरु भाई चिमनदास जी से मिली तो उन्होंने कहा- "चलो तुम्हें वृन्दावन के सम्पूर्ण दर्शन कराऊं'' और हमें संतोष बहिनजी से मिलवाया था। वस्तुतः ही उनके दर्शन कर लेना सम्पूर्ण वृन्दावन के दर्शन कर लेना ही था। आज भी उनकी कही बातें कानों में गूंजती हैं- उनका चेहरा आंखों के आगे घूमता है। वृन्दावन की उस विभूति को मेरा शत् शत् प्रणाम।

– कलावती, अजमेर

[१३]

"काया कल्प कर दिया"

संतोष मासी जी की बहुत सी यादें मेरे मन में आ रही है, वैसे वृन्दावन में रह रहे आप लोग उनके बारे में मुझसे ज्यादा जानते हो। वो मेरी मासी ही नहीं, मेरी धार्मिक गुरु भी थी। उन्होंने ही मुझे यह राह दिखाई थी। मैं इसके लिए उनकी हृदय से आभारी हूं। मैं छोटी ही थी जब मम्मी मुझे वृन्दावन लाई थीं। सोचा था मासी से मिलूंगी, घूमूंगी-फिरूंगी- मासी घुमाने ले भी जातीं, पर मंदिरों के दर्शन कराने संतों के दर्शन कराने कथा सुनाने। मुझ बच्ची की उसमें रूचि न थी, मैं बोर हो जाती। मुझे अनमनी देख मासी छोटी-छोटी कथाओं की किताबें ले आईं और मुझे पढ़कर सुनाने को कहा। मेरा समय अच्छा कटने लगा। वो खुद भी कहानियां सुनातीं- पर मेरा ज्यादा मन नहीं लगता था। हर साल ही छुट्टियों में वृन्दावन आना होता। धीरे-धीरे पता नहीं कब मेरा मन वृन्दावन आने का इंतजार करने लगा। वो कहानियां अच्छी लगने लगीं, ठाकुरजी से लौ लगने लगीं। शाम को मासी जी ऊषा मासी जी के यहां पद सुनने के लिए भेजने लगी। मुझे संगीत अच्छा लगने लगा। मैंने भरतखंडे से विशारद किया कि अब मैं ठाकुरजी को पद सुनाऊंगी। मेरी मासी जी ने मेरा पूरा कायाकलप ही कर दिया। इतनी अच्छी शिक्षा तो कोई भी नहीं दे सकता। आज जो भी जैसी भी जितनी भी मेरी लग्न है वो मासी जी की कृपा का फल है। उन्हें मेरा कोटि कोटि प्रणाम!

— किरन मजुमदार, लखनऊ

* * *

[१४]

"महामानवी- संतोषजी"

ईश्वर ने मात्र खेल के लिए और लीला के लिए कुछ महामानवों का निर्माण किया। इनकी देह तो वही रहती है पर मन ईश्वर में समाहित होता है। ऐसी ही थी हमारी पूज्या संतोष जी। साधरण सी दिखने वाली, सरल स्वभाव की बहिन जी ने अपनी शख्सियत को बहुत ही छुपाकर रखा। परमात्मा की असीम कृपा ही थी कि मुझे ऐसे घर में जन्म मिला जिसका सम्पर्क बहिनजी से था। बाल्यकाल की उनकी चमत्कारों की अनेकों घटनाऐं सुनने को मिली। मेरी नानी इनकी सखी थीं। उन्होंने ही बताया था- ये बहुत ही समृद्ध परिवार से थीं। शयनकक्ष में बड़ा सा पलंग होते हुए भी अपने प्रिया प्रियतम के क्रीड़ा हित छोड़ ये फर्श पर ही सोती थीं। इनके हाथ से ठाकुर प्रत्यक्ष होकर भोग अरोगते थे। आधे बचे भोग को ये सबको बांटकर खुद पाती थीं।

स्नेहमयी बहिनजी के वास्तविक स्वरूप को जानना हम जैसों के लिए असंभव सा ही है। कुछ पुण्य उदय हुए कि उनका सम्पर्क मिला उनके दर्शन करने का सौभाग्य हुआ। उनकी सरलता, स्नेहभरी मुस्कान और ठाकुरजी के चरणों में अथाह प्रेम सबके मन को मोह लेता था। उन्हें भुला पाना असंभव हैं। मन के भावों को शब्दों में बांधना असंभव है। मेरी माताजी पदमा खुल्लर एवं समस्त परिवारजन उनके चरणों में अपने श्रद्धासुमन अर्पण करते हैं।

— नीलम खन्ना, दिल्ली

* * *

[१५]

"महान-संत"

परम भागवत श्रद्धेया बहिनजी की ब्रज के रसीले-रंगीले ठाकुरजी में अपूर्व प्रीतिपूर्ण अनुरक्ति थी- वह उमड़ते अनुराग की सजीव प्रतिमा वैराग्य की महानतम आदर्श-स्नेह सौहाद्र के विपुल भाव से ओतप्रोत दैन्यता- विनम्रता की साक्षात मूर्ति थीं। प्राणीमात्र के प्रति करूणाभरा हृदय... सर्वोपरि सन्त निष्ठा सन्त सेवा के अनूठे भाव से पूर्ण उनका गरिमापूर्ण जीवन सारे वृन्दावन में अद्वितीय रहा। उनका दर्शन करके....उनके पास बैठकर सदैव अलौकिक आनन्द एवं आत्मसंतोष की अनुभूति होती थी।

श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध में श्रीभगवान ने स्वयं श्रीमुख से कहा है- "सर्वप्रिय -सर्वश्रेष्ठ भक्त वह है जो सबमें मुझे देखें।" परम पूज्या बहिनजी में नख से शिख तक यह भाव भरा हुआ था। उनका कोमल हृदय प्राणीमात्र के लिये सदैव दयार्द्र रहता था। कीट-पतंग तक का कष्ट उन्हें व्याकुल कर देता था- जब तक वह उसके दुख को दूर न कर देतीं उन्हें चैन नहीं मिलता था- ऐसी अनेकों घटनाओं से भरा उनका जीवन स्वच्छ दर्पण की भांति समस्त वृन्दावन में प्रकट था।

जब भी कभी किसी को कोई कष्ट-परेशानी-विषम परिस्थिति, मानसिक उलझन.....कैसी भी वेदना हो, उनके पास जाने से ही परम शांति मिलती थी। वह सबके लौकिक-अलौकिक सब अभावों को दूर करती-अनेकों भक्त गाथायें सुनाकर-श्रीठाकुर के रसीले चरित्र सुनाकर। उनका अपना जीवन कठोर तितिक्षापूर्ण था- अपना कष्ट-बीमारी आदि को तनिक भी प्रकट न होने देतीं जबकि दूसरों के दुख को देख-सुनकर वह तड़प उठतीं थीं..जीवमात्र के प्रति संवेदनशील पूज्या बहिनजी वास्तव में उच्चकोटि की सन्त थी। किन्ही उच्चतम संत ने एक बार

कहा था, " कि सौ सन्तों के दर्शन के समान इन एकमात्र का दर्शन करना है।" यह कथन पूर्णतया सत्य है।

श्रीवृन्दावन आने से पूर्व ही ब्रज के इस रसीले ठाकुर में अनुरक्त- आसक्त थी। उन्हीं के सामीप्य का भान निरन्तर रहता था, उन्हीं में तन्मय विमुग्ध रहती थीं। पूज्या बहिनजी के ही मुख से अचानक यह बात सुनने को मिली कि जब वह छोटी ही थीं तो अपने घर जेहलम में.....निरन्तर ठाकुरजी में तन्मय रहती थीं- उन्हीं की रूपमाधुरी में विभोर.....इनकी माँ को यह बात समझ न आती, उन्होंने इन्हें बहुत कष्ट दिये। यह रोती-रोती ऊपर छत पर जाकर कहने लगी "मेरा दुनिया में कोई नहीं है।" उतने में ही इन्हें आभास हुआ, श्रीठाकुरजी कह रहे हैं, "सन्तोषजी, मैं जो तुम्हारा हूँ।" इन्हीं अनुरागी प्रियतम का साक्षात सबल सम्बल पा यह उन्हीं के धाम श्रीवृन्दावन में चली आईं। पूज्या बहिनजी का करूणा और प्रेम का स्रोत किसी अखण्ड प्रेम पुंज से निसृत था। उसी को पा वह भगवत भाव से उस स्नेह को जीवमात्र में वितरित करती रहीं।

पूज्या बहिनजी की सन्त निष्ठा अपूर्व थी.... श्रीधाम में अपने समय का कोई भी ऐसा सन्त नहीं जिनके पास यह न गई हो- ऐसा यहां के महानुभावों से ही सुना है। बड़े बड़े सन्त इनकी सत्यपरायणता, निर्भीकता- ओजपूर्ण वाणी-प्रिया प्रियतम के प्रति अपूर्व अनुराग से प्रभावित थे। संतो-भक्तों की रसीली चर्चा करते समय यह इतनी तन्मय हो जाती थी कि अन्य कार्यों का, अपने कष्ट का, बीमारी देह आदि का भान ही नहीं रहता था। दिन रात संत चरित्रों का पठन इनका व्यसन था....जब भी इनके पास जाते यह आध्यात्मिक साहित्य पढ़ती दृष्टिगोचर होतीं। जो पढ़ती वह सबको कई कई बार सुनाती.....एकबार एक बहिन को कोई संत चरित्र सुना रही थी, अंगीठी पर दाल बनने

के लिये रखी थी, उस बहिन का ध्यान तो उधर दाल की तरफ था कि कहीं वह जल न जाये.... जब इन्होंने देखा कि वह ध्यान से नहीं सुन रही तो तेजी से बोलीं, "तेरा ध्यान कहाँ है? उसने कहा– "बहिनजी दाल जल जायेगी"- आप बोलीं "जलती है तो जलने दे- जो मधुर चर्चा हो रही है उसे ध्यान से सुन।" श्रीठाकुर चर्चा एवं सन्त चर्चा में इतनी तन्मय हो जाती थी कि अन्य कार्य विस्मृत हो जाते थे।

पूज्या बहिनजी दिव्य गुणों से सम्पन्न एक महान सन्त थी अत: सन्तों की पारखी भी थीं- हमारी पूज्या गुरु श्री ऊषा बहिनजी से विशेष आत्मीयता रही- पूज्या ऊषा बहिनजी की श्री ठाकुर सेवा-उनकी रसमयी-माधुर्य उपासना तथा अध्यात्मिक जगत में उनकी स्थिति से सुपरिचित थी- एक बार मैंने ही कहा बहिनजी हम तो न इधर के है न उधर के- बीच में लटक रहे है- कैसी दशा है हमारी-हमारा क्या होगा।" आप अत्यन्त दुलार उंडेलती अत्यन्त ओजपूर्ण वाणी में बोली- "अरी तू बोबो जी (पूज्या ऊषा बहिनजी) की होकर ऐसा कह रही हैं- जिसकी उन्होंने बांह पकड़ ली वह वहीं जायेगा- उन्हीं का अत्यन्त अपना हो गया- उसको तुम समझी नहीं- मैं जानती हूँ उसे, वह उनकी अत्यन्त प्रिय हैं वह उनका नाता निबाहेंगे।" महद्जनों के प्रति उनकी अपूर्व निष्ठा थी।

पूज्या बहिनजी के गरिमापूर्ण जीवन- प्रभु प्रेममय जीवन का यत्किंचित भी वर्णन करना असम्भव है- क्या कहें और क्या छोड़े, वह ममता-स्नेह करूणा से ओतप्रोत एक महान विभूति थी। उनका उमड़ता प्यार- उनके पत्र लेखन में भी झलकता था। जब पत्र में सम्बोध न करके लिखती "मेरा प्यार भरा प्यार" ओह! यह सब क्या था? रोम रोम से प्यार की बौछार करता, उमड़ता-हुल्सता यह प्यार.....प्राणीमात्र के उर अन्तर को प्लवित करने वाला प्यार....!! जब भी हम में से कोई उनके पास जाता वह अपने मधुर प्यार भरे हृदय से हमें आशीर्वाद देकर जन्म जन्मान्तरों की निधि प्रदान कर देतीं। कहतीं- "प्रभु जी तुम्हें अपार सुख दें। देह को निरोग रखें। अपने चरणों का प्यार दें॥".... क्या शेष रह गया देने को........वह प्यार भरी वाणी... वह सान्त्वना देने वाली ओझल हो गई है....कान अब भी आतुर हैं निरन्तर, एकबार फिर इस रसीली प्राणदायिनी वाणी को सुनने के लिये.....यह निधि अक्षय है....उनकी वाणी अमोघ है... वही महान विभूति हमें उस दिव्य प्यार का भाजन बनायेंगी- ऐसा दृढ़ विश्वास है- अपनी इन्हीं स्नेहमयी-रसमयी-करूणामयी पूज्या बहिनजी के श्रीचरणों में बार बार नमन, बार-बार प्रणाम!!!

– सन्तोष नारंग, वृन्दावन

[१६]

"लाड़-प्यार की साक्षात् मूर्ति"

परम पूज्या संतोष बहिनजी के बारे में कुछ भी लिखने में अपने आपको असमर्थ सा महसूस कर रहा हूं। उनकी कृपा से ही दो चार लाइनें लिखने का साहस कर रहा हूँ।

अद्‌भुत व्यक्तित्व था पूज्या बहिनजी का। वे लाड़ प्यार की साक्षात् मूर्ति थीं। उनके प्रथम दर्शन में ही व्यक्ति सदा सदा के लिये उन का हो जाता था।

हमारी गुरु परम पूज्या बोबो जी (पूज्या ऊषा बहिनजी) नवम्बर, १९५९ में जब अम्बाले से प्रथम बार श्रीवृन्दावन धाम आई, तो इन महान विभूति के पास ही ठहरी। इन दोनों महान विभूतियों का परस्पर का मिलन, श्री श्रीठाकुरजी को लेकर सरस चर्चा और कभी-कभी स्नेह भरा रार प्यार- देखने योग्य ही होता था। पू.बोबो जी

इन्हें छोटी जमुना जी कहा करती थीं। श्री यमुनाजी की भांति इनकी कृपा से कुछ भी सहज सुलभ था।

पू०बहिनजी की सन्तों और भक्तों के प्रति अगाध निष्ठा और श्रद्धा थी। उनका धार्मिक ग्रंथों का अध्ययन भी कमाल का था। जब भी उनके दर्शन करने जाते, वे कुछ न कुछ पढ़ती हुई मिलतीं, सरस प्रसंगों को सुनाकर गद्गद् होती और कभी-कभी पढ़ने के लिये भी कहतीं।

जीवमात्र के प्रति उनकी करूणा और ममता भी अद्भुत थी। वे किसी को भी दुःखी देखकर द्रवित हो जाती थीं। इस विषय में एक आँखों देखी घटना याद आ रही है। अक्टूबर, २००३ की बात है, श्री श्री ठाकुर जी सहित, हमारी पूज्या शीला बहिनजी यहां बड़ी कुंज में हमारे पास विराज रहीं थीं। इस शुभ अवसर पर अम्बाले से, निर्मला का भानजा सपरिवार आया हुआ था। एकदिन वह और उसकी पत्नी नन्दिता पू०बहिनजी के दर्शन करने गए। प्रणाम करके उनके सामने बैठ गए। पू.बहिनजी ने नन्दिता को देखकर कहा- "मुनिया! तू बहुत उदास लग रही है- तेरे मन में अवश्य कोई बात है।" उसने कहा, बहिनजी कोई बात नहीं। बहिनजी के बार-बार पूछने पर उसने बताया कि उसकी माताजी बहुत बीमार हैं और वे चारपाई से उठ भी नहीं पाती। बहिनजी ने तुरन्त कहा ठीक हो जाएगी- चिन्ता न कर।" एक दो दिन बाद जब वह अम्बाले लौटी तो उसे पता लगा कि उसकी माताजी ठीक होने लग गई हैं और कुछ दिनों के बाद वह चलने-फिरने भी लग गई हैं। इस घटना से नन्दिता के मन में बहिनजी के प्रति बहुत श्रद्धा हो गई। जुलाई, २००४ में जब नन्दिता को पू.बहिनजी की बीमारी का पता लगा तो वह मन ही मन उनके दर्शनों के लिये प्रार्थना करने लगी। घरेलू बन्धनों के कारण वह तुरन्त तो न आ पाई। जैसे-तैसे १ अगस्त, २००४ को वह अकेली ही चली आई। उसी दिन सायं को हमारे साथ सेवाश्रम पू.बहिनजी के दर्शन करके आई, पर उसे कुछ

तसल्ली न हुई। २ तारीख सायं को मौसम बहुत खराब था- घने बादल छाये हुए थे- बूंदाबांदी हो रही थी- सभी ने मना किया कि ऐसे मौसम में सेवाश्रम न जाए। पर वह मानी नहीं और अकेले ही रिक्शा करके बहिनजी के दर्शनों के लिये सेवाश्रम चली गई। लगभग डेढ़, दो घंटे बाद जब वह वापिस घर आई, तो उसने बताया कि आज उसे दर्शन करके सन्तुष्टि हुई- बहिनजी ने उसकी ओर देखा भी। ३ तारीख को सबेरे वह अम्बाले चली गई। भगवत-विधान, ३ तारीख सायं को ही पू.बहिनजी ने निकुंज लीला में प्रवेश कर लिया।

पूज्या बहिनजी के गोलोक धाम गमन से लगभग डेढ़ दो वर्ष पूर्व से दवाई आदि के बहाने, मैंने निकट से जो उनकी कृपा और लाड़-प्यार का अनुभव किया, वह मुझे जीवन भर झकझोरता रहेगा।

उन भक्तिस्वरूपा, लाड़-प्यार की साक्षात मूर्ति और परम करूणामयी को हमारा शत शत नमन।

कृपाकांक्षी

निर्मला-बशेशर, वृन्दाबन

[१७]

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्व च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(श्रीमद्भागवतगीता ६/३०)

श्रीमद्भागवतगीता के उपरोक्त श्लोक का मार्मिक अर्थ सभी प्रेमीभक्त जानते हैं। ऐसी ही समदर्शिनी सन्त थीं हमारी पूज्या संतोष बहनजी। प्राणीमात्र के दुःख से दुःखी होना, करूणा बरसाना उनका स्वभाव ही था, चाहे वह मनुष्येतर जन्तु-पक्षी ही क्यों न हो! जो लोग उनके सम्पर्क में थे, उनके सम्मुख ऐसी घटनाएँ निरन्तर होती ही रहती थीं।

बहुत छोटी अवस्था में ही हमारी परम पूजनीया बोबोजी (ऊषा बहनजी) ने मुझे उनकी झोली में डाल दिया था। बचपन से ही मुझे प्रायः वे बाजार से सब्जियाँ आदि मंगाने भेजती थीं। पैसे पहले ही देकर भेजतीं, ताकि किसी को लाने में संकोच न हो। आने के पश्चात् पूरा हिसाब करतीं। यदि ९ रुपये का सामान है तो उन्हें १० रुपये देने मंजूर थे, ८ कभी नहीं। सांसारिक लोगों की तरह आज खुले नहीं है, कल ले लेना, ऐसा उन्होंने कभी नहीं किया। भगवान के सन्त होते ही विलक्षण हैं। वे अपने व्यवहार में भी पूर्ण आदर्श होते हैं।

हमारे मासिक वेतन आदि में से वे पैसे लेती न थीं, अतः बड़े होकर मैंने वस्तुओं के मूल्य कम बताने शुरू कर दिये ताकि इस तरह कुछ उनकी सेवा हो जाए; पर उनकी पैनी नजरों के सामने यह ज्यादा दिन चल न सका। धीरे-धीरे उन्होंने मुझे मार्केट ही भेजना बन्द कर दिया। सन्तों की सेवा आसान कार्य थोड़े ही है- श्रीभरत जी ठीक ही कह रहे हैं- "सब ते सेवक धरमु कठोरा" (अयोध्या काण्ड, २०३)।

कारण यह था कि बचपन में हमारी आर्थिक स्थिति कुछ ऐसी ही थी। पारिवारिक दीन अवस्था सुन वह रो पड़तीं, पर उनके एक-एक आंसू का हिसाब चुकता कर दिया श्री ठाकुरजी ने। न केवल आज पूर्ण वैभव है वरन उस समय स्वप्न सा प्रतीत होने वाला प्रथम श्रेणी अधिकारी पद भी पूज्या संतोष बहिनजी की कृपा से ही सहज प्राप्त हो गया। पूजनीया बोबोजी इतनी महान थीं कि रक्त-सम्बन्धियों के लिए श्रीठाकुरजी से उन्हें कुछ कहते नहीं बनता था पर उनकी प्रतिछाया पूज्या सुशीला जी, संतोष जी, पूज्य मनोहर बाबा इस बात को बखूबी समझते थे और इस त्रिमूर्ति के कृपा-आशीर्वाद से आज पूज्या बोबो के परिकर के हर सदस्य के पास सुख-सुविधायें हैं और सभी श्रीवृन्दावन धाम के प्रति विशेष धन्यवाद व कृतज्ञता का अनुभव करते हैं।

इस आध्यात्मिक नींव में भी पूज्या सन्तोष बहिनजी का हाथ रहा। जो भी उनसे मिलने जाता था उसे सत्संग अवश्य सुनाती थीं। विविध सन्त-चरित्र, गीता प्रेस का मासिक "कल्याण", अन्य विशेषांक तो जैसे उनके प्राण ही थे। अतः उनसे कोई व्यर्थ की बात कर ही न सकता था। उनके सेव्य श्रीशालिग्राम जी की सेवा व सदैव श्री हरि-चर्चा ही उनके जीवन का आधार था।

१९९१ में कार लेने पर बड़ी इच्छा थी कि पूजनीया बोबोजी उसमें बैठें। वे उन दिनों गौरा नगर में थीं, पर उन्होंने शर्त रखी- "तू यदि सन्तोष जी व सरला जी को कालोनी से व पूज्य भैया को वेणुविनोद कुंज से यहां ले आये तो मैं समझूंगी कि मैं ही बैठ गई हूं।" जब पूज्या संतोष बहनजी व सरला बहनजी को बैठाकर ले जाने लगा तो दोनों बारंबार यही कहती रहीं- "देखो, बोबो जी की कृपा से अनिल आज कार वाला हो गया है।" दिव्य संतों का ऐसा पारस्परिक अनुमोदन-स्नेह-सौहार्द श्रीयुगल सरकार के नित्य परिकर में ही सम्भव हैं।

आखिर, ३ अगस्त, २००४ को वह दिन आ ही गया जब पूज्या सन्तोष जी ने भौतिक लीला संवरण कर ली। इससे पूर्व जून-जुलाई में पूज्या सुशीला जी ने फोन आदि करके लगभग सभी को उनके अंतिम दर्शन करवा ही दिये थे। ३० जुलाई को हर वर्ष वृन्दावन में पूज्या बोबो का जन्मदिन मनता ही है। २९ जुलाई को मैं भी सपरिवार श्रीरामकृष्ण मिशन अस्पताल पहुँचा, बहुत देर तक पूज्या सन्तोष जी मेरा दाहिना हाथ अपने कर में लिये रहीं। भैया राकेश भी पास में ही थे। राकेश जी के बारंबार कहने पर भी कि उनकी नली आदि हट जायेगी, उन्होंने मेरा हाथ न छोड़ा। जब नर्स आई व इंजेक्शन आदि लगाने के लिए मेरा हाथ हटाया तब भी वे मुझे ममतापूर्ण दृष्टि से निहारती रहीं। गोलोक गमन से पूर्व वे महामना जाने क्या प्रेषित

करना चाह रही थीं, वे ही जानें। बस इतनी ही कामना है कि हमें उनकी ममतामयी आध्यात्मिक क्रोड सदैव सुलभ रहे और कुछ इस प्रकार का आशीर्वाद हम सभी को वे सदा-सर्वदा देती रहें-

अजर अमर गुननिधि सुत होहू। करहुँ बहुत रघुनायक छोहू॥

(सुन्दरकाण्ड/१६)

– श्रीमती अनुपम-अनिल भटनागर, गुड़गाँव

[१८]

"तीर्थी कुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तस्येन गदाभृता"

भगवान के प्रेमीभक्त स्वयं तो तीर्थस्वरूप होते ही हैं, परन्तु वे अपने हृदय में विराजमान भगवान गदाधर के नाममात्र के द्वारा तीर्थ को भी सच्चा तीर्थ बनाने में समर्थ होते हैं। संत का जीवन ही जगत के कल्याण के लिये होता है। उनका लोकसेवा व्रत और यथार्थ विश्व प्रेम जिस कल्याण की सुधाधारा बहाता रहता है, वह धारा यदि सूख गई होती तो अब तक सारा जगत सर्वथा भयंकर राक्षसों की क्रीड़ास्थली ही बन गया होता। उनकी वाणी से अमर ज्ञानामृत का वह निर्झर स्रवित होता रहता है जिसमें प्लावित होकर जगत के प्राणी जीवन्त कहलाते हैं। जिस देश में वे रहते है। वह पुण्य तीर्थ बन जाता है। वे जो उपदेश करते हैं वह पावन शास्त्र बन जाता है। ऐसे ही सद्गुणों की खान हमारी श्रद्धेया नित्य लीला लीन पूज्या संतोष बहिनजी थीं। जो भी उनके सम्पर्क में आए सभी अपने को धन्य मानते हैं- उन्हीं के पुनीत पादपद्मों में पुनः पुनः नमन करते हुए कुछ संसमरण जो मेरे स्मृति पटल पर उभर कर आ रहे हैं- उल्लेख करने का प्रयास कर रही हूँ। मुझे अच्छी तरह स्मरण है वह दिन- वह आकस्मिक सुयोग जबकि मैं सीधी पूज्या बोबो के पास न पहुंचकर पूज्या श्रीसंतोष बहिनजी के

गोपीनाथ बाजार वाले निवास पर पहुंची- यह मेरी श्रीधाम आने की प्रथम यात्रा थी। सुयोग ऐसे बना कि मेरे पास पूज्या बोबो के नए निवास का पता मौजूद नहीं था और मैं उनके पुराने पते पर अर्थात् गोपीनाथ बाजार वाले पू.बहिनजी के मकान पर ही पहुंची- अकेली ही आई थी। उस समय पू.बहिनजी कितने प्यार व स्नेह से मिलीं- प्रथम भेंट में यही लगा कि जन्म-जन्मान्तरों की पहिचान है शायद। हमारी बोबो जब १७ नवम्बर १९५९ को श्रीधाम प्रथम बार आई थीं तो इन बहिनजी के पास ही आकर ठहरी थीं- अल्प काल के लिये। उनके स्नेह व ममता के विषय में वर्णन करती हुई एक पत्र में बोबो लिख रही हैं- मैं ज्यों का त्यों उद्धृत कर रही हूं। यह पत्र १७-११-६९ का है। "आज १७ तारीख है। आज से ठीक दस वर्ष पहले आज के ही दिन मैं इस अपने चिरईप्सित श्रीवृन्दावन धाम में पहुंची थी। संध्या की धुंधली सी, सुरमीली सुषमा सर्वत्र व्याप्त थी। श्रीगोपीनाथ बाजार का वह दृश्य मैं भूलती नहीं। आज भी देखती हूं, पर उस समय का देखना कुछ और ही था- पू॰ (सन्तोष) बहिनजी का वह उमग कर मिलना .... मानों युग युगों, जन्म-जन्मान्तरों की घनिष्ठतम सखी ने आगे बढ़कर अपनी चिरकाल से बिछड़ी, एक भूली भटकी बहिन को हृदय से लगा लिया है। श्री सरलाजी का वह मौन मिलन....पूज्यपाद अंकल जी का वह वात्सल्यपूर्ण आह्लाद आज भी मेरे मानसिक नेत्रों के सम्मुख उसी प्रकार सजीव है।"

हमारी पूज्या बोबो ने श्रीधाम में लगभग तैंतीस वर्ष इन्हीं पू. बहिनजी, सरला बहनजी, धर्म बहिनजी जैसी उच्चकोटि की महिला संत समाज में निरंतर लीला कथा का आस्वादन करते हुए व्यतीत किए। वृन्दावनीय तात्कालिक सन्त समाज एवं स्थलियों का दर्शन भी पू.सन्तोष बहिनजी ने स्वयं साथ ले जाकर करवाया। अतः जीवन भर बोबो इन बहिन जी की ऋणी अनुभव करती रहीं। यद्यपि बोबो इनसे

आयु में छोटी थीं पर सबसे पहले नित्यलीला में अपने प्राणप्रेष्ठ से जा मिलीं। हम अबोध बालिकाओं को पू.बहिनजी जैसे महामहिम संतजनों के सान्निध्य में छोड़ गईं। साठ के दशक से लेकर आज तक हम लोग लगभग गत ४४ साल तक पू.बहिनजी के सत्संग का सुख लेते रहे।

जब कभी कोई लौकिक विपत्ति या संकट का हमें सामना करना पड़ता तो हम पू. इन्हीं बहिनजी की शरण में जाते। क्योंकि वे बहुत जल्दी करूणार्द हो जाया करती थीं- स्वयं तो दूसरों के कष्ट निवारणार्थ प्रार्थना करती ही थीं, हमें भी रामायण की दो तीन चौपाईयाँ का दृढ़ता व विश्वास से जप करने को कहतीं-

१. ''दीन दयाल विरिद संभारी, हरहु नाथ मम संकट भारी।''
२. ''जो प्रभु दीनदयाल कहावा, आरत हरण वेद यश गावा॥''

और निश्चय ही उनकी कृपा से हमारा संकट कब दूर हो गया, हमें पता ही नहीं चलता था।

पू॰बहिनजी का सन्त सेवा का भाव अद्वितीय था। वे तन मन धन से सन्त सेवा में कोई कसर नहीं रहने देती थी। एक बार की बात स्मरण है मुझे, जब मैं श्रीधाम में श्रीबनमहाराज की संस्था में शोध कार्य कर रही थी- मुझे उस समय केवल १५० रु॰ मासिक छात्रवृत्ति प्राप्त होती थी। पूज्या बहिनजी ने मेरे हित में एक मास की यह अल्प सी राशि संत सेवा में लगाने के निमित्त देने को कहा- मैंने सहर्ष स्वीकार किया। इससे बढ़कर धन का सदुपयोग क्या हो सकता था? उन्होंने यह राशि भिन्न-भिन्न संतों में वितरित कर दी- अपने लिये मात्र ५ रुपये ही रखे।

ऐसे ही मेरे सेवा-निवृत होने पर श्रीधाम आने पर जब मैंने उनसे कुछ सेवा के लिये अनुरोध किया तो उन्होंने अपने लिये हां नहीं

की- अपितु किसी अन्य असहाय बहिन की कुछ सेवा की ओर संकेत दिया। ऐसा था उनका दीन-दुखियों एवं संतों के प्रति सेवाभाव।

पूज्या सरला बहिनजी जो पंजाब की इनके अपने शहर की निवासी थीं, प्रज्ञा-चक्षु थीं- बचपन से संगीत प्रेमी थीं तथा अपने मधुर-सुरीले कण्ठ से बाजे पर गाकर श्रीठाकुरजी को रिझाया करती थीं–इनके पास रहने के लिये आ गई थीं। पंजाब के विभाजन के बाद पूज्या बहिनजी ने उनका लालन-पालन शिशुवत, परन्तु सन्त रूप मानकर जी-जान से किया। सदा उनका हाथ पकड़कर श्रीधाम की गलियों में, सत्संग एवं रासलीला-दर्शन के निमित्त जाया करती थीं। कभी इन्हें अकेले नहीं छोड़ती थीं। सदा यही डरती रहती थीं कि मैं पहले चली गई तो सरला की सेवा का भार किस को सौंप कर जाऊँगी। श्रीहरि ने उनकी अनन्य निष्ठा को निभाया और श्री सरला जी उनसे आठ वर्ष पहले ही गोलोक गमन कर गईं। उनकी दस मास बिस्तर पर पड़े हुए कैसी प्राणपन से सेवा की, कहते नहीं बनता।

इसी प्रकार अपनी निजी मां की सेवा डेढ़ वर्ष तक श्रीधाम में बिस्तर पर पड़े हुए की, जबकि वे अर्ध बाह्य दशा में थीं और इनके मामा इनके पास छोड़ गए थे। कहते हैं बचपन में इन्हीं माता ने इनको बहुत कष्ट दिये थे- क्योंकि यह अपने भक्ति भाव में सदा लीन रहती थीं और सांसारिकता के लिये इन्होंने माता पिता की आज्ञा नहीं मानी- 1964 में कार्तिक पूर्णिमा के दिन इनकी माता ने देह त्याग दिया। वे सिक्ख धर्म को मानने वाली थी। सन्त गुरु नानकदेव जी की अनन्य उपासिका होने के नाते 'नानक जयन्ती' को ही अपने प्राण त्याग किये। पूज्या बहिनजी की जननी थीं- अतः भाग्यशालिनी थीं।

सेवा की साक्षात मूर्ति बहिनजी की एक घटना और भी स्मरण है मुझे। वेणु विनोद कुंज के बाबा मनोहरदास जी जब मौन साधना में

रत थे तथा निरन्तर अखण्ड भजन में तल्लीन रहा करते थे- उन दिनों वे श्रीमदनमोहन जी के मन्दिर के पास वाली एक कुटिया में रहते थे। अचानक उनको 'शाटीका' का भयंकर रोग हो गया। उनको चलने-फिरने में भी बहुत कष्ट था। उन दिनों पू.बहिनजी गोपीनाथ बाजार में ही रहती थीं- वे यहां से श्रीमदनमोहनजी के मन्दिर तक पैदल ग्रीष्म की दुपहरी में नंगे पांव भाग-भागकर श्रीयमुना पुलिन के रास्ते से जाकर उनकी सेवा में उपस्थित होती थीं- उनके रोग की सेवा सुश्रुषा के लिये जो भी अनिवार्य था- वह सब प्रबन्ध करती थीं।

पिछले एक डेढ़ वर्ष से पू.बहिनजी हृदय-रोग से ग्रस्त होते हुए भी शान्त भाव से बैठी रहा करती थीं। अपना समय सन्तों के जीवन-चरित्र पढ़ने में लगाया करती थीं। उन्हें कभी खाली लेटे-बैठे नहीं देखा- न कभी रोग के कारण खिन्न होते देखा। पूरी सर्दी में विशेष गर्म वस्त्र भी नहीं पहिनती थीं- उनके हाथ पांव ठंडे रहते थे- पर शाल तक नहीं ओढ़ती थीं। कहती थीं साधक को जितना हो सके अपने शरीर को चलाना चाहिये- और अधिक से अधिक सहनशील होना चाहिये। श्री गीताजी के ''मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्ण सुख-दुःखदा'' वाले श्लोक का सजीव उदाहरण थीं।

परम पूज्य बाबा मनोहरदास जी की भी पू.बहिनजी के प्रति बहुत श्रद्धा एवं निष्ठा थी। दोनों ने एक दूसरे की अनन्य श्रद्धा को कैसे निभाया यह देखिए जरा। अंतिम दिनों में जब पू.बहिनजी को सेवाश्रम में भर्ती किया गया तो उनकी अर्धबाह्य सी दशा थी। वे लकवे के कारण पूरा बोलने में भी असमर्थ थीं- उन्हीं दिनों पू॰बाबा को अखण्ड संकीर्तन के लिये मध्य प्रदेश जाना पड़ा। हम लोग यही डरते रहे कहीं उनकी अनुपस्थिति में पू.बहिनजी का शरीरान्त न हो जाए। पर आश्चर्य। बाबा एक-दो दिन पूर्व लौट आए और एक दिन पहले उन्हें

देखने सेवाश्रम भी गए- बस उन्होंने उनके अंतिम दर्शन करके अगले दिन निकुंज गमन कर लिया। मैं तो मन ही मन आश्चर्य में डूब गई- कैसी निष्ठा रही होगी उनकी पू.बाबा के प्रति- और बाबा ने भी अपने मनोबल से उन्हें अपनी अनुपस्थिति में जाने नहीं दिया। धन्य है ऐसी सन्त निष्ठा।

ऐसी सन्तसेवी- सतत नाम स्मरण में रत, मननशीला-सर्वभूत हितेषा पूज्या सन्तोष बहिनजी की पावन स्मृति हमारे प्राणों में सदा बसी रहेगी।

''तनिक मान नहीं मन में, सब सों राखत प्यार।
'नारायण' ता सन्त पैं, बार बार बलिहार॥''

सन्तोष गुप्ता
बड़ी कुंज, श्रीवृन्दावन धाम

[१९]

"प्यार की अथाह समुद्र"

परम पूजनीया बहिनजी प्यार दुलार एवं करूणा ममता की आगार थी। उनसे प्रथम बार मिलने पर ऐसा लगा था जैसे पता नहीं कब से ये मुझे जानती हैं। ऐसा अपनापन शायद अपना कहलाने वालों से भी न मिला हो। अपनी पूज्या गुरुरूपा बोबो जी की कृपा से पूज्या बहिनजी के बहुत समीप रहने का अवसर मिला। उन दिनों पू.बहिनजी मोतियाबिन्द के कारण कुछ भी अध्ययन नहीं कर सकती थी। मैंने तभी कालोनी में रहना शुरू किया था। तभी पू.बोबो जी ने मुझे बहिनजी को नित्य पुस्तक पढ़कर सुनाने की और बाजार से सामान लाकर देने की आज्ञा दी। अतः अब मैं प्रतिदिन उन्हें पढ़कर सुनाने लगी और जो भी आवश्यक काम होता, करने लगी। इससे उनके

अत्यन्त समीप रहने का और उन्हें समीप से अवलोकने का सुअवसर मिला। उन्होंने सदा अपनी छोटी बहिन से भी बढ़कर स्नेह दिया।

कुछ समय पश्चात एकबार कुछ ऐसी बीमारी हो गई मुझे, जिससे घर में भी चलना फिरना बन्द हो गया। अतः उनके घर तक भी न जा पाई। पहला ही दिन था, उन्हें संदेश भिजवाने वाली ही थी कि क्या देखती हूँ पू.बहिनजी बाहर खड़ी मुझे पुकार रही हैं। मैं तो देखकर हैरान हो गई। मैंने कारण बताया। कहने लगी कोई बात नहीं। पर इसके बाद वे प्रतिदिन पुस्तक लेकर मेरे घर आने लगी। बहुत संकोच में पड़ गई मैं।

फिर एक दिन पूज्या बहिनजी ने पूछा, केला खाया तूने। उससे भी आराम आ सकता है। पू.पिताजी केला लेने बाजार गये पर यहां मिला नहीं (मौसम न होने के कारण) दूसरे दिन देखती हूँ कि वे स्वयं ही केले लेकर आ गई। मैं तो पानी पानी हो गई। मुझ जैसी नगण्य के प्रति इतनी ममता। उन्होंने केले कैसे, कहां से मंगवाये, पूछने पर भी नहीं बताया।

इसके पश्चात मैने उनसे कहा, ''अब से मैं ही आया करूंगी।'' एक मिनट चुप रहकर बोली- हां अब तो तू ठीक ही हो जायेगी, केला खाने से। उसी दिन से मेरा स्वास्थ्य ठीक होना शुरू हो गया।

एक दिन पू. बहिनजी ने पूछा– ''आज श्रीगोपाल जी ने कौन सी फ्रोक पहनी है?'' मैंने बता दिया– ''नीले रंग की।'' चुप होकर हंसने लगी। मेरे कई बार पूछने पर उन्होंने मुझे बताया, "कई दिन से मैं देख रही हूँ जब तू आती है तेरे पीछे-पीछे श्रीगोपाल जी भी आते है, पर मैं इसे अपने मन का भ्रम समझती थी इसलिए फ्रोक के विषय में पूछा। सचमुच ही कृपा करते है वे।"

पुरानी बात याद आ रही है एक बार मैं गर्मी की छुट्टियों में श्रीधाम आई हुई थी। यहां आकर प्रतिदिन श्रीयमुनाजी के दर्शन आगमन के लिए जाती ही थी। एक दिन किसी कारणवश श्रीयमुनाजी न जा सकी। संध्या हो चुकी थी कुछ-कुछ अंधेरा सा होने लगा था। मैंने पू.बोबोजी से श्रीयमुनाजी जाने को पूछा तो वे बोली ''अब नहीं श्री यमुनाजी जाना, देर हो गई; परन्तु पूज्या बहिनजी के दर्शन करके आ। वे छोटी यमुना जी है। उनका स्पर्श श्रीयमुना जी का स्पर्श है।'' मैं तुरन्त पू.बहिनजी के पास आई- उन्हें प्रणाम किया। अध्ययन करते समय पू. बहिनजी जो भी बात बहुत सुन्दर लगती उस पर निशान लगा लेती मुझे सुनाने के लिए। कभी-कभी तो किसी को बुलाने भी भेज देती।

प्रायः मैं उनसे पूछती, हमें भगवत प्राप्ति कैसे होगी? बस यही कहती कि नामजप और प्रार्थना। प्रार्थना में इतना बल है कि प्रभुजी को जीव के सामने प्रगट होना पड़ता है। नाम को प्रीतिपूर्वक जपो, हृदय का समस्त प्यार बटोरकर जपो।

जो पुस्तक स्वयं पढ़ती उसे बाद में मुझे भी पढ़ने को देती। भक्त गाथाओं को पढ़ने पर विशेष बल देती और कहती इससे साधक को बल मिलता है। हमारे जैसे बहुत छोटों के सामने भी सदा वे दीनता में ही रहती।

श्रीधाम में कई स्थलियों के दर्शन भी उन्होंने ही मुझे साथ ले जाकर करवाये। प्यार की अथाह समुद्र थीं। आते जाते समय उन्हें प्रणाम करते। हमेशा तीन आशीर्वाद देतीं।

१. प्रभु जी अपार सुख दें।

२. प्रभु जी अपने चरणों का प्यार दें।

३. काया निरोग रहें।

जीवमात्र के प्रति उनकी ममता बरसती देखने में आई। वन्दे पर पीड़ा कातरम्।

प्यार, दुलार, करूणा ममता की अथाह समुद्र पूज्या बहिनजी के श्रीचरणों में पुनः पुनः प्रणाम। पुनः पुनः प्रार्थना भी करती हूँ कि हमें सदा-सदा अपनी स्मृति में रखें; कभी प्रसंग वश श्रीश्रीयुगल सरकार को भी हमारी याद दिला दें। पुनः पुनः प्रणाम सहित।

– सरोज गुप्ता, वृन्दावन

[२०]

"बस इनका पल्ला पकड़ लो"

परम पूज्या संतोष बहिनजी का कैसा दिव्य जीवन था। उनकी कृपादृष्टि मुझे सन् १९६० से प्राप्त हुई। सर्वप्रथम पू.बोबोजी के साथ अम्बाला से वृन्दावन आने का मुझे भी सौभाग्य मिला। प्रतिदिन सिन्धी कालोनी से-यमुनाजी होते हुए हम सब पू.संतोष बहिनजी व सरलाजी के दर्शन करने जाते। वे हमें भक्त गाथाएं ही नहीं सुनाती, साथ ले जाकर समाधियों के, स्थलियों के दर्शन भी करातीं। आप कहती थीं "मुझे समाधी व संत बहुत ही प्रिय हैं, ये ही मेरे इष्ट हैं। इन्हीं की कृपा से सब कुछ अति दुर्लभ वस्तु भी सहज ही प्राप्त हो जाती है। भक्त ही भगवान को प्रकट कर उनके प्रेम आस्वादन की योग्यता प्रदान करते हैं।" इस प्रकार जब वे संतों की महिमा बखान करतीं तो बोबो हमें कहती "ये सब गुण, सामर्थ्य पू.संतोष बहिनजी में स्वतः ही हैं, बस इन्हीं का पल्ला पकड़ लो।"

जब हम लोग अकेले उन्हें प्रणाम करने जातीं तो संतोष बहिनजी पू.बोबो व सुशीला बहिनजी की उत्कृष्टता दर्शाती उनका गुणगान करती हमें सजग करती, कहतीं- "देखो ऊषा जी व शीला जी

साधारण नहीं हैं। सौ सौ संत उन पर वार दिए जा सकते हैं। उनसे लाभ उठा ले।" पू.मनोहर भैया के पास जाते तो वे संतोष बहिनजी के असाधारण चरित्र का बखान करते। जब ये सब लोग इकट्ठे होते तो एक दिव्य वातावरण होता। मैं कुछ समझ न पाती पर इन सबकी रससिक्त मुखाकृति, दिव्य वातावरण हमारे हृदय को स्पर्श करता, जैसे ये सब अलौकिक नित्य लीला के ही पात्र हो। कैसा अद्भुत रस साम्राज्य होता। कभी खूब हंसते, कभी अथाह गंभीरता। पू.संतोष बहिनजी को उनकी अनुभूतियां लेकर छेड़छाड़ भी होती- उस वक्त उनकी वो सहज अरूण मुखाकृति, सजल नेत्र, टेढ़ी ग्रीवा, अपने में सिमटी सी सरक सरक कर चटाई से जमीन पर जा बैठने की मुद्रा ..... सभी उसी रस के अनुभवी थे.... परस्पर छुपाव न था। कभी-कभी उन रसीली चर्चाओं के मध्य प्रिया प्रियतम के प्राकट्य की स्फुरणा भी सबको हो जाती थी। पूज्यपाद महाराजश्री और घनश्याम भैया के आने से तो वातावरण और भी सरसीला हो जाता था। पू.संतोष बहिनजी भाग भागकर दौड़ दौड़कर चीजें लाती- खिलातीं, चाय पिलाती, मानों साक्षात् स्फूर्ति ही हो। और जब घनश्याम भैया का गान प्रारंभ हो जाता तो पू.संतोष बहिनजी अपने घुटनों को बाहुओं में लपेटे एक हाथ कपोल पर धरे मुग्ध मुद्रा में स्तब्ध सी बैठ जाती। कभी-कभी मुझे भी गाने का अवसर मिल जाता। मुझे उकसाने को महाराजश्री एक पंक्ति गा उठते "लटकत चलत युवति सुखदानी" और फिर मैं पूरा पद गाती। उस रागमय वातावरण में पू.संतोष जी लीला में प्रविष्ट सी ही दिखती थी। कभी-कभी सरला जी के साथ पू.बहिनजी भी गातीं और अंत में महाराजश्री "आवनि मोहन लाल की" संध्या का भीगा भीगा वह सुरसीला समय.......कहां गए वे दिन। उन्हीं की यादों में अनुरंजित–

–निर्मला शर्मा, वृन्दावन

[२१]

"अमूल्य-निधि"

३ अगस्त, २००४ को पूज्या सन्तोष बहिनजी के गोलोक गमन से यह धरा एक दिव्य विभूति से वंचित हो गई। पू.बहिनजी वृन्दावन धाम की अमूल्य निधि थी। उनका धराधाम पर आना बड़े सौभाग्य की बात थी। मेरे जैसे साधारण लोगों को भी उन्होंने अपना स्नेह प्रदान किया। जब भी उनके निवास स्थान के सामने से निकलती हूं या उनका विचार आता है तो उनकी मंजुल मूर्ति, उनके करूणा पूर्ण नेत्र प्रीति पगी बातें, उनका अपने प्रति सच्चा सौहार्द, सच्ची कल्याण भावना, उनका गदगद होकर आशीर्वाद देना सब स्मृति पटल पर उभर आते हैं। जीवमात्र के प्रति उनकी करूणा, उनका प्यार अनिर्वचनीय था। जब भी उनके पास जाते कोई न कोई अध्यात्मिक चर्चा करती, किसी न किसी भक्त गाथा को सुनाती, प्रेरक प्रसंग सुनाती, पथ प्रदर्शन करती। वे भक्ति सागर का अमूल्य रत्न थीं। उनके विषय में कुछ भी कहना सूर्य को दीपक दिखाने के समान है। किसी का भी कष्ट न वह देख सकती, न सुन सकती। करूणा परवश कष्ट दूर करने का कोई न कोई निदान निकाल ही लेती। ऐसी मातृतुल्य अपनी बड़ी बहिन को खोकर हम सब अकिंचन हो गए। उनके चरणों में शत शत प्रणाम करते हुए उनसे तथा उनके सर्वस्व श्रीश्रीयुगल सरकार से उनके चरणों की प्रीति की याचना हैं।

– उर्मिल राजेश्वरी

* * *

[२२]

"परदुःख द्रवहिं संत सुपुनीता"

पूज्या संतोष बहिनजी का हृदय प्रभु प्रेम से लबालब भरा हुआ था। जब भी उनसे हरि चर्चा सुनने का सुअवसर प्राप्त हुआ, उनका कंठ प्रेम विह्वल रुद्ध ही पाया। वाणी गद्‌गद् होती और नेत्र अश्रुपूरित हो जाते। उन्हें कभी खाली बैठे नहीं देखा। किसी न किसी ग्रन्थ का अध्ययन करती मिलती थीं। उनकी धारणा शक्ति बहुत तीव्र थी। नि:सहाय निर्धन और जरूरतमंद व्यक्तियों की इन्होंने जीवन पर्यन्त तन-मन-धन से सेवा की। खुद भी की और दूसरों को भी प्रेरित करवाती रही। मनुष्य ही नहीं जीव जन्तुओं, पशु-पक्षियों के दुःख से भी आप करूणार्द्र हो उठती थीं, और उनके दुःख निवारण का भरसक प्रयास करतीं। श्रीमद्‌भगवतगीताजी का यह श्लोक-

विद्या विनय सम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिभि।
शुनि चैव त्रह पाके च पण्डिता समदर्शिनः॥

इन पर पूर्णतया चरितार्थ होता है। पिछले कुछ वर्षों से मेरे घुटनों में बहुत दर्द है लाठी लेकर चलना पड़ता है। जब उन्हें प्रणाम करने जाती तो मुझे ऐसी दशा में देख बहुत दुखी होतीं। बहुत कहने पर भी कि मुझे तकलीफ नहीं है, वो "परदुःख द्रवहिं संत सुपुनीता" की साक्षात मूर्ति मेरे लिए विह्वल हो उठतीं। उन प्रेम की साक्षात् मूर्ति, वात्सल्यमयी को कोटि कोटि वन्दना।

– तृप्ता चोपड़ा

* * *

[२३]

"छोटी यमुना जी"

परम आदरणीया संतोष बहिनजी के पुनीत चरणों में कोटि कोटि प्रणाम। एक बार मैं सरोज बहन के साथ पूज्या संतोष बहिनजी के घर के आगे से जा रही थीं तो सरोज बहन ने बताया- ''बोबोजी 'आपको' छोटी यमुना कहा करती थी।'' मैं एकदम कह उठी ''आपने यह बात पहले क्यूं न कही, मैं प्रतिदिन इनके दर्शन किया करती।'' मेरा दुर्भाग्य कि मैं इतने सहज सुलभ दर्शन से वंचित रह गई।

अन्तर्यामिनी पू.संतोष जी ने मेरी यह आर्तनाद सुन ली। अपनी अस्वस्थता की अवस्था में उन्होंने अपना सामीप्य और सन्निधि प्रदान कर मुझे बड़भागी बना दिया, मेरा इतना भाग्य कहां कि उनकी सेवा का अवसर मिलता। पू.सुशीला बहिनजी की कृतज्ञा हूं कि उन्होंने मुझे ऐसी संत की सेवा के योग्य समझा। अस्पताल में उनकी सेवा के समय उनका वो सुखद कोमल स्पर्श, उनका 'राधा-राधा' का सतत स्मरण. .....मुझे आज भी रोमांचित कर जाता है। एक दिन तो अर्धरात्रि को ही खिड़की को दरवाजा समझ वो बाहर जाने का प्रयास करने लगीं- समझाने के बाद भी उनकी उस ओर टकटकी सी लगी अवलोकन .... निश्चय ही प्रिया प्रियतम उनके समक्ष दृष्टिगोचर थे। उस वक्त हम भी भूल गए कि सेवाश्रम के किसी कमरे में हैं। परम भक्ता परम संत पू॰ संतोष जी को शत शत प्रणाम।

— आशा भटनागर, वृन्दाबन

* * *

[२४]

"मुकुटमणि-संतोषजी"

अपने अनुरागी भक्तों के लिए श्रीठाकुरजी कहते हैं ''मैं भक्तों का दास, भक्त मेरे मुकुटमणि।'' शीश पर मुकुट में झिलमिलाते मुक्ता स्वरूप ही हैं उनके निज जन। पूज्या संतोष बहिनजी भी उनकी वैसी ही निजजन थीं जो हम जैसों के उद्धार के लिए, उस साम्राज्य का अतापता बताने और उनसे हमें जोड़ने के लिए इस धरा पर आई थीं। पू.बोबो की महती कृपा से हमें उनका सुखद संग सुलभ हुआ और उनकी स्नेहिल अनुकम्पा, अपनत्व हमें मिला। उनके पास जब भी जाते, वे अपना हस्तकमल शीश पर रख कह उठतीं। ''प्रभु का प्यार मिले, तन सुखी रहे, काया निरोग हो।'' हमारा दुःख चाहे शरीर का हो या मन का, वे सुनते ही द्रवित हो जातीं। दवाई उठा लाती, उपचार करती। हम भी सहज ही अपने मन की उन्हें बता देते थे। हमारी छोटी से छोटी बात का वो ममतामयी ध्यान रखती थीं। एक बार मेरी धोती थोड़ी सी फटी थी। देखते ही झट सरलाजी की साड़ी ले जाने का आग्रह करने लगीं। मुझे आवश्यकता न होने पर भी वो देकर ही मानी। उनके प्यार को क्या कभी भुलाया जा सकता है।

भक्तों के प्रति उनकी अद्वितीय निष्ठा थी। पूर्णतया डूबकर जब वो भक्त चरित्र सुनाती तो मन को कितना सुख होता। पू॰ बोबो जब लीला पढ़ती तो इतने मनोयोग से सुनती, लगता वो उसी लोक में पहुंच गई हो। उस वक्त उनकी पुलकन देखने योग्य होती। श्री ठाकुरजी उनके निकटतम होते।

प्यार दुलार का समुद्र श्रीश्रीठाकुरजी हैं या राधारानी हैं पर इनकी ममता स्नेहसिक्त व्यवहार गदगद कर देता। वे सबको ही

अत्यधिक स्नेह देती। जो भी उन्हें मिलने जाता, उनके स्नेहसिक्त वातावरण, हरि कथा, उनकी संतों के प्रति निष्ठा के कण बटोर कर लाता। परदुःखकातरा बहिनजी की जीवमात्र के प्रति करूणा उमड़ पड़ती। उनके गुणों को कहना सूर्य को दीपक दिखाना है। औरों से सदा निरपेक्ष रहतीं, स्वयं तन मन धन से दूसरों के काम आती। वेणु विनोद कुंज के सभी परिकर की ये अत्यन्त श्रद्धेया रहीं। सभी इन्हें हृदय से चाहते थे। संत शिरोमणि मान इन्हें आदर देते थे।

वैराग्य की मूर्ति संतोष बहिनजी की जीवनी साधक को हरपल सावधान करती रहेगी। इतनी सर्दी में भी उन्हें एक बोरी पर, या टाट के टुकड़े पर बैठे देखा गया। लाख कहने पर भी कम्बल पर नहीं बैठती थीं। वो क्या थीं, कैसी थीं समझ पाना बहुत मुश्किल हैं पर पूर्णतया ठाकुर की थी। एक बार बचपन में जब मां से रूष्ट हो इन्होंने अपने को कोठरी में बंद कर रूदन करते हुए कहा- 'मेरा कौन है, मेरा कौन है' तो वहां श्यामल पुंज झिलमिला उठा था और आवाज आई ''संतोष जी, मैं जो हूं तुम्हारा'' ठाकुर की उस निज निधि को, परम भक्ता संतोष बहिनजी को पुनः पुनः प्रणाम।

—सुमित्रा गुप्ता, वृन्दावन

[२५]

"ममतामयी"

परम पूजनीया संतोष बहिनजी से मेरा प्रथम परिचय सन् १९५४ में हुआ था। तब बहिनजी गोपीनाथ बाजार में रहती थीं। मैं जून के महीने में अपनी भुआजी हीरादेई, धर्मजी, विमलाजी, व भाभी जी के साथ वृन्दावन आई थीं। हम गोविन्दबाग में ठहरे थे। पू.बहिनजी रोज शाम को हमसे मिलने आती थीं। खूब ठाकुर चर्चा और भक्त चरित्र सुनातीं। इन्हीं दिनों मुझे खूब तेज ज्वर हो गया। सब कहें इस लड़की को दिल्ली भिजवा दो। ममतामयी संतोषजी रोज मुझे देखने आतीं। कई दिनों तक हमें पू.बहिनजी का सत्संग मिला। वे हमें बांकेजी के संकीर्तन में भी ले जाती थीं, बहुत अच्छा लगता था। फिर बांके बिहारी कालोनी में उनके दर्शन हुए थे और १९८९ में जब वो बड़ी कुंज आकर ठहरी तब तो सरलाजी व बहिनजी का डेढ़ साल के लिए सामीप्य मिला। उन दिनों मेरी माताजी भी वृन्दावन आई हुई थी। वो यहां पांच महीने रहीं। मैं शाम को बोबो के यहां पाठ में चली जाती थीं। माताजी सरलाजी व पू.बहिनजी एक ही चारपाई पर बैठ घंटों ठाकुर चर्चा में व्यस्त रहतीं। माताजी को मैंने अपने जीवन में इतना प्रसन्न कभी नहीं देखा। वे पू॰ संतोष बहिनजी से बहुत ही प्रभावित थीं।

एक बार मेरा भाई अत्यधिक बीमार था। मुझे ३ चौपाईयों का पाठ १० मिनट तक रोज करने को कहा और आप स्वयं भी मेरे भाई के निमित्त पाठ किया करती थीं। उन्हीं की कृपा से वो ठीक हो गया। उनके मुख से सबके लिए आशीर्वाद ही निकलते थे और उनकी गूंज आज भी मेरे कानों में ध्वनित हो रही है। आप कहतीं- 'सुबह होते ही ठाकुर जी से यही मांगा करो।' मैंने कहा- ''इसमें सकामता झलकती है।'' बोली- सकामता को मारो गोली- शरीर ठीक होगा तभी भजन बन पाएगा उनका स्मरण हो पाएगा। उनके दर्शन करने से ऐसा लगता था कि उनके अंग प्रत्यंग में, रोम रोम में ठाकुर समाए हुए हैं। मेरी उनके चरणों में प्रार्थना है कि वे हमें निरन्तर देखती रहें व युगल सुन्दर की प्रीति प्रदान करें।

—मलका, बड़ी कुंज,वृन्दावन

* * *

[२६]

"साधक-सावधान"

हरपल साधन में सावधान पू॰संतोष बहनजी अन्तिम समय तक अति सतर्क रही और हम साधक बहिनों के लिए प्रेरणा व आदर्श हैं।

पू.बहिनजी मन की अत्यन्त कोमल थी, पर साधन में लापरवाही देखने से वो अति कठोर भी हो जाती थीं। चाहे थोड़ी देर बाद ही स्नेह सौहार्द से समझा बुझाकर उसका प्रतिकार भी कर देती थीं। शारीरिक कष्टों, मानसिक क्लेशों और अन्य आपदाओं में सहानुभूति जताती हुई रामायण के परिस्थिति अनुरूप विशिष्ट दोहों का जप करने को बताती थीं।

हमारी पूरी रक्षा का भार उन्होंने वहन किया हुआ था। झुकी कमर, मस्तक नीचे किए, एकाग्रता से अध्ययनरत बहिनजी को जब प्रणाम करने जाते तो बहुत ही त्वरा व व्यग्रता से वो प्रसंग झट हमें सुनाने लगती।

उन अतीव प्रिया स्वर्गीया संतोष बहिनजी को पुनः नमन। जीवनकाल में जैसी उदार रही, अन्त समय भी अपने साथ-साथ कईयों को निकुंज में साथ ले गई। प्रिय सामीप्य की सतत प्रेरणा देने वाली पू.बहिनजी से इस पथ पर चलने की क्षमता प्रदान करने की प्रार्थना करते हुए, उनको कोटि कोटि प्रणाम।

–पुष्पा गुप्ता, वृन्दाबन

* * *

[२७]

"युगल प्रेम की साक्षात मूर्ति"

मैं पूज्या सन्तोष बहनजी के चरणों में पुनः पुनः प्रणाम करती हूँ। वह श्रीयुगल प्रेम की साक्षात मूर्ति थीं। मैं जब भी उनसे मिलने जाती, वह कितनी मधुर वाणी में आशीर्वाद देती "ठाकुर तुम्हें अपने चरणों का प्यार दे, सुखी रक्खे, निरोग रखे! उनके ये शब्द आज भी मन प्राणों में गूंज उठते हैं।

– सुदेश, वृन्दाबन

[२८]

"पर दुख-दुख, सुख-सुख देखे पर"

आयु में ज्येष्ठ होने से मैं उन्हें 'बहिनजी' करके ही सम्बोधन करती थी। वे बड़े लाड़-प्यार से मेरा लालन-पालन करती थी। उनकी तनिक सी भी सेवा करने पर वे इतनी कृतज्ञ हो जाती थी कि शुभ आशीर्वाद की झड़ी लगा देती। दूसरे के कष्ट को देखकर इतनी कातर हो जाती कि कोमल हृदय से ठाकुरजी से प्रार्थना करतीं कि उसका कष्ट दूर हो जावे। एक बार मेरी भाभी वृन्दावन दर्शन करने आयी। उनके पेट में कैंसर था और वे अति व्यथा में थी। मैं उन्हें बहिनजी के दर्शन कराने ले गई थी।

जब उन्होंने सुना कि मेरी भाभी को अति कष्ट है तो ठाकुरजी के सामने खड़ी होकर अश्रु बहाती हुई प्रार्थना करती रही कि उनका कष्ट दूर हो जावे। वापस जाकर उन्होंने शल्य चिकित्सा कराई तो बहिनजी के आशीर्वाद से बिल्कुल ठीक हो गई, अब जब भी जाँच कराती है तो कोई रोग नहीं निकलता। पू॰ बहिनजी सबकी सेवा

सहायता करने को सदा तत्पर रहतीं। उनके पास जाकर कोई अपने अभाव का दुख कहता तो इसके पश्चात उनके पास जो धन आता उसमें से प्रचुर धन उस अभाव ग्रस्त को दे देतीं। दीनता की मूर्ति थीं। कठोर बोलना तो जानती ही नहीं थीं। मेरे स्वनाम धन्य सद्गुरुदेवजी महाराज को अपने बाल्यकाल से जानती थीं, यदाकदा उनकी चर्चा करके उन्हें श्रीठाकुर की गोचारण आदि लीला की जो स्फूर्ति होती थी उनका स्मरण करके रोने लग जाती थीं। मेरे परिवार से अति स्नेह करती थीं। अन्तिम समय में मेरी माताजी उन्हें दिल्ली से देखने आयी। मैंने बहिनजी से पूछा 'इन्हें पहचानती हो' तो उत्तर दिया कि ये मेरी माताजी हैं। सदा ही शुभाशीर्वाद देती रहती थी उनकी पावन स्मृति से मन भर जाता है और नेत्र अश्रुपूरित हो जाते हैं।

सुश्री सरला जी से बहिनजी के जो भावनात्मक सम्बन्ध थे उनके बारे में मैं अति संक्षेप में इतना लिखना चाहती हूँ कि सरला जी इनको कभी-कभी बहुत कठोर वचन बोल देती थीं परन्तु धन्य था इनका शील स्वभाव, धैर्य और सहिष्णुता कि अपना ही दोष मानकर क्षमा प्रार्थना करने लग जाती। अपने को कोई कष्ट होता तो कहने लगती कि सरलाजी की सेवा में कोई त्रुटि रह गई होगी उसी का यह फल है। दूसरों पर उपकार करके भूल जाती, कभी जिह्वा पर नहीं लाती परन्तु जो कोई उनका कुछ काम कर जाता तो बार-बार उसका बखान करती। सबके गुण ही गाती किसी के दोष न देखती, न कहती। ऐसी करूणा ममता की आगार पूज्य बहिनजी के चरणों में कोटि-कोटि दण्डवत प्रणाम!

– रमन, वृन्दाबन

* * *

[२९]

"संत-शिरोमणि"

परम सन्त शिरोमणि पूज्या सन्तोष बहिनजी की छत्रछाया मुझे प्राप्त हुई, यह मेरा परम परम सौभाग्य है। यह इन वृन्दावन बिहारी-बिहारिणी की ही मुझ पर अपार करूणा-ममता ही है जो मुझ जैसी अनजान-अबोध को इतनी उच्चकोटि की महिला-सन्त का आश्रय प्राप्त हुआ।

बिहार में रहने वाली एक अपरिचित सी मैं, घरेलू परिस्थितिवश सब छोड़कर अपने जीवन के दिन पूरे करने श्री वृन्दावनधाम सन् १९९३ में आई थी। मुझे यहाँ का कुछ भी परिचय न था। अपना पेट भरने के लिये भजनाश्रम में अपनी मां के साथ सुबह शाम जाती तथा जैसे-तैसे समय यापन कर रही थी। राधाबल्लभीय निर्मोही अखाड़ा-गोविन्द घाट में एक पुराने छोटे से कमरे में रहती थी। वहाँ सन्तोष नारंग नाम की बहिनजी भी रहती थी- एक दिन उन्होंने मुझे बुलाकर मेरे बारे में पूछा- उन्होंने मुझे अपनी गुरु पूज्या ऊषा बहिनजी और सन्तोष बहिनजी के बारे में परिचय दिया। जब उन्होंने बताया कि उनकी गुरु पूज्या ऊषा बहिनजी अभी कुछ समय पूर्व निकुंज गमन कर चुकी हैं तो मुझे दुःख हुआ कि मैंने उनका दर्शन नहीं किया। पूज्या ऊषा बहिनजी की अनेकों जीवन की घटनायें उनकी कोमलता-स्नेह सौहार्द, उनके युगल सेवा-प्रीति भक्ति की बातें सुन यही दुःख हुआ कि मैंने उनके दर्शन क्यों नहीं किये। अपने दुर्भाग्य पर मन मारे बैठ गई क्योंकि १९९२ में मैं श्रीवृन्दावन आ चुकी थी पर कहीं और रहती थी। नारंग बहिनजी ने मुझे पू॰ सन्तोष बहिनजी के बारे में भी बताया था- अतः उन्हीं के साथ मैं पूज्या सन्तोष बहिनजी के दर्शन करने गई- उन्होंने

मुझे बहुत ही प्यार से अपने पास बिठाकर मेरे बारे में सारी जानकारी प्राप्त की- उस समय उन्होंने ''श्याम का स्वभाव'' नामक पुस्तक मुझे दी थी- वह पुस्तक पाकर मैं बहुत ही खुश हुई। मेरे खाने-पीने रहने की बात सुनकर वह अत्यन्त दया से भर गईं। मुझे कहा, तुम यहाँ आती रहा करो- मैं प्रायः उनके पास जाती। वे मुझे आर्थिक सहायता एवं आध्यात्मिक सम्पत्ति दोनों ही देती रहीं। यह बिहारीजी और किशोरीजी की साक्षात् कृपा ही मुझ पर हुई।

२४ नवम्बर, १९९५ को पूज्या सरला बहिनजी का, जो पूज्या सन्तोष बहिनजी के साथ रहती थी, स्वास्थ्य बिगड़ गया तो पूज्या सन्तोष बहिनजी ने मुझे उनकी सेवा के लिये बुलाया- मेरा अहो भाग्य था कि सन्तों की सेवा करने का सुअवसर मिला। ३१ मार्च, १९९६ तक उनकी सेवा की- एक अप्रेल को वह धाम प्राप्ति कर गई तब करुणामयी पू॰सन्तोष बहिनजी ने कहा-''चन्दन, जैसे सरला को निभाया है उसी तरह मुझे भी निभाना है- रोज आती रहना।'' कुछ समय पश्चात मेरी मां पधार गई तो पूज्या बहिनजी ने माँ के अन्तिम समय दाह संस्कार के समय उपस्थित होकर माँ को गति प्रदान की, उनकी जन्म-मृत्यु सुधार दी- ऐसा करूणामय कौन होगा। अगले दिन पुनः बहिनजी ने मुझे बुलाकर कहा- ऐसा न करना कि माँ चली गई और तुम भाग जाओ- तुम्हें मेरे पास रोज ही आना है- अतः मैं नित्यप्रति उनके पास जाती रहती- पू॰ बहिनजी मां से भी बढ़कर मुझे प्यार करतीं- मेरा ध्यान रखतीं- मुझे पुस्तकें पढ़ने को देती, हर रोज भक्त गाथा सुनाती और मेरे जीवनयापन की सारी व्यवस्था उन्होंने की- मेरा भजनाश्रम जाना छुड़वा दिया।

एक बार मैंने पूज्या बहिनजी से प्रार्थना की कि कई साधक बहिनें श्रीराधाकृष्ण कृपाकटाक्ष का अनुष्ठान करती हैं- कोई अन्य किसी स्तोत्र का पाठ आदि नियमपूर्वक करते है और उन्हें लाभ भी

हुआ है, मुझे भी कुछ पाठ आदि बतायें जिससे श्रीठाकुरजी का दर्शन हो। पूज्या बहिनजी मेरी लम्बी चौड़ी बात सुनकर कुछ देर चुप रहीं, फिर बोलीं- ''नाम निरादर जिन करो, दिन दूनो दुलराओ, दोहरी तेहरी लै कुलाटें तब जीय दर्शन पाओ'' फिर समझाने लगीं ''तुम नाम को क्यों नहीं पकड़ती। अनुष्ठानों में मन को क्यों ले जाती हो, ठाकुर स्वतन्त्र हैं। अपनी मर्जी से दर्शन देते हैं किसी के वश में नहीं हैं। तुम नाम लिया करो नाम से ही सब कुछ मिलेगा, नाम पर भरोसा रख।'' मैं बोली ''बहिनजी आप मेरे सिर पर हाथ रख दो, मेरा मन नाम में लगे।'' पूज्या बहिनजी ने उस दिन बड़े प्यार से मेरे सिर पर हाथ रखा।

मुझ हर प्रकारसे असहाय अनाथ-साधनहीन का उन्होंने हाथ पकड़ा और अपने प्यार का भाजन बनाया। मेरा मन नाम में लगाया, धाम में रहने की व्यवस्था की। मुझ पर यह बिहारीजी और किशोरीजी की अकारण कृपा हुई जो परम पूज्या बहिनजी जैसे सन्त शिरोमणि का आश्रय मिला- मेरा इह लोक भी और परलोक भी सुधारा..... अब भी परम पूज्य बहिनजी ही मेरा सम्बल हैं- मैं उन्हीं से प्रार्थना करती हूँ कि वह मेरी सार सम्हार कर प्रिया-प्रियतम के चरणों की भक्ति एवं प्रीति प्रदान करें।

सदा सदा उन्हीं की कृपाकाँक्षिणी, उन्हीं के चरणों में प्रणत हूँ उन्हें अनेकों प्रणाम!

– चन्दन, वृन्दाबन

***

[३०]

"संत प्रेमी-संत स्वरूपा"

पू॰ बहिनजी से जैसा कुछ सुना उसी के आधार पर लिखने की कोशिश कर रहा हूँ।

बहुत छोटी अवस्था से ही बहिनजी का मन श्रीकृष्ण रूप में तन्मय रहता था अपने घर परिवार तथा शरीर की भी सुधि नहीं थी। अपने पैत्रिक ग्राम झेलम (जोकि अब पाकिस्तान में है) में ये मन्दिर में दर्शनों को जाती थीं। मन्दिर में श्रीराधाकृष्ण के विग्रह थे परन्तु इनकी दृष्टि श्रीकृष्ण रूप में इतनी आसक्त हो जाती थी कि उनके पास ही श्रीराधारानी भी हैं इसका इन्हें बहुत समय तक पता ही नहीं चला।

जब भारत स्वतंत्र हुआ, पाकिस्तान बना। इनकी अपनी जन्मभूमि छूटी, घर परिवार छूटा। अपने प्रियतम के घर श्रीधाम वृन्दावन में निवास मिला। वृन्दावन में ईट पत्थरों के बने हुये मकान भी हैं, इसकी इन्हें बहुत समय तक जानकारी ही नहीं हुई। बहिनजी ने वृन्दावन को लता-पताओं से घिरे हुये वन के रूप में ही देखा।

उस समय वृन्दावन में अनेक सिद्ध सन्तों का निवास था। सभी सन्त बहिनजी से प्रेम करते थे तथा बहिनजी का भी सभी सन्तों से बहुत प्रेम था। श्रीश्री उड़िया बाबाजी के आश्रम में, श्रीश्री उड़िया बाबाजी, हरिबाबा जी तथा श्रीश्री आनन्दमयी माँ के सान्निध्य में सदा रासलीला कथा तथा संकीर्तन की धूम रहती थी। श्री उड़िया बाबाजी का भी बहिनजी से बहुत स्नेह था। बहिनजी उस समय गोपीनाथ बाजार में रहती थीं। बाबा हर सोमवार को श्रीगोपेश्वरजी के दर्शनों को जाते समय गोपीनाथ बाजार में बहिनजी से जरूर मिलते थे तथा बहिनजी भी उनके आने का इन्तजार करती रहती थीं।

एक बार रात्रि के सत्संग में श्रीउड़िया बाबाजी के आश्रम में बहिनजी सरला बहिनजी के साथ श्रीश्रीआनन्दमयी माँ के एकदम पीछे बैठी थी। दोनों को बहुत जोर की भूख लग रही थी। सरला बहिनजी माँ को संबोधित करके धीरे-धीरे कहने लगी- माँ, भूख लग रही है कुछ खाने को दो। दो-तीन बार कहने पर माँ ने पीछे मुड़कर इन दोनों को ऐसी प्रेमभरी दृष्टि से देखा कि इनकी भूख एकदम मिट गई, मन अपूर्व आनन्द में निमग्न हो गया।

एकबार जब श्रीहरिबाबा जी अकेले सायंकाल में घूमने जा रहे थे रास्ते में सरला बहिनजी व बहिनजी मिल गई। सरला बहिनजी के पुकारने पर बाबा रुक गये। सरला बहिनजी ने कहा— बाबा! सच सच बताइये कि क्या आप वास्तव में महाप्रभु जी हैं। पू॰ बाबा ने हँसते हुये कहा कि "मैं तो महाप्रभु नहीं हूँ परन्तु तू सूरदास जरूर है।" सरला बहिनजी ने कहा कि हम आपके चरणों को छूकर प्रणाम करना चाहते हैं। बाबा ने कहा— 'फिर मैं भी वैसे ही प्रणाम करूंगा।' सरला बहिनजी ने कहा— "नहीं फिर तो हम दूर से ही प्रणाम कर लिया करेंगे।"

जिन्होंने पू॰ बहिनजी को निकट से देखा है वे तो जानते ही है कि पू॰बहिनजी के सम्पूर्ण जीवन का एक मिनट भी व्यर्थ की बातों में व कार्यों में व्यतीत नहीं हुआ। उनका सम्पूर्ण जीवन इसी श्लोक का ही मूर्तिमान अर्थ है–

वाणी गुणानुकथने श्रवणौ कथायां हस्तौ च कर्मसु मनस्तव पादयोर्नः।
स्मृत्यां शिरस्तव निवास जगत्प्रणामे दृष्टिः सतां दर्शनेऽस्तु भवत्तनूनाम्॥

–राकेश, वृन्दाबन

* * *

[३१]

"दुर्लभ-साधुसंग"

मैं वृन्दावन से वाकिफ नहीं था। वहां की इबादत वगैरा भी नहीं जानता था। हमारी अफसरान जब देखो वृन्दावन की दौड़ लगाती थीं। उनकी वृन्दावन की मुहब्बत देख रश्क होता था। और भी हैरत हुई जब एक रोज मुझे सुपने में वृन्दावन का नजारा दिखा। वहां मैंने एक बुजुर्ग मोहतर्मा को भी देखा। एकदम झुकी कमर, दुबली पतली, पर चेहरे से अल्लाह का नूर झलकता था। उसी कशिश में एक रोज मैं अपनी अफसरान के साथ वृन्दावन चला आया। उन्हें सब बताने पर उन्होंने एक भक्त महिला से मिलवाया। वे बहुत अच्छी लगीं; मैंने अदब से सलाम किया पर ये वो नहीं थीं। एक और जगह जाने पर वोही नूरानी चेहरा दिख गया- सिज्दे में मेरे हाथ अपने आप उठ गए। उन्हें मेरे मुस्लिम होने का इल्म हुआ पर उनके चेहरे पर कोई नाखुशगवारी नहीं थी। नसीहत देते हुए उन्होंने कहा था- "अच्छी संगत बहुत मुश्किल से बहुत भाग्य से मिलती है पर कोई विरला ही उसका पूरा पूरा फायदा उठा पाता है। वक्त बेफजूल कभी न बिताना। जिन्दगी का मकसद पहचानो।" उनकी नसीहत उम्र भर याद रहेगी। उसके बाद दो तीन बार वृन्दावन गया पर उनके दीदार नहीं कर पाया। उनके इन्तकाल का पता चला। मन बहुत गमगीन हो गया। खुदा की उन पे मेहर हो।

– सिराज एहसान, दिल्ली

* * *

[३२]

"सरलता की मूर्ति"

संतोष बहिनजी......! नाम स्मरण आते ही जो छवि आँखों के आगे बनती है वह साक्षात दया स्नेह एवं सरलता की मूर्ति मानों वृन्दावन में निवास करती रहीं।

मुझे जबसे अपने बाल्यकाल का स्मरण होता है, मैंने बहिनजी को सरलाजी के साथ नित्य ही रासलीला के लिए आते देखा था। कितनी सरल विनम्र कि कह नहीं सकता। सदैव ही उन्हें झुके हुए ही देखता था। मुझे स्मरण नहीं कभी उन्हें सीधा तने हुए देखा हो।

बहिनजी का व्यवहार सभी के प्रति अपनत्व एवं दयालुता का रहता था। जब भी कभी उनके निवास पर जाना होता तो मानों अपना प्रेम-स्नेह अर्पण करती थी। भगवत चर्चा एवं सन्तों का महापुरुषों के उपदेश एवं संस्मरण अवश्य बतलाती थी।

सरलता के रूप में जबतक सरला बहिनजी रहीं, सदैव कहती थीं- "सरला! भैया को आशीर्वाद दो कि कार्य चले, परिवार एवं जीवन सुखी रहे।" सदा ही सरला बहिनजी के माध्यम से ही अपनी कृपा करती रहतीं। आपके यहां जाने पर जो आत्मिक शान्ति का अनुभव होता था। उसका वर्णन लिखना सम्भव नहीं है। यह उनकी अपनी साधना तपस्या का ही प्रत्यक्ष प्रमाण है। अपने जीवन में हमें सरलता, स्नेह, विनम्रता का अनुसरण करते हुए पूज्य बहिनजी को स्मरण करते रहना चाहिए।

आज भी जब उस मकान के सामने से निकलना होता है मन स्वतः ही उस स्थान को नमन करता है।

डा॰ हरिवल्लभ शर्मा
श्रीरासबिहारी सदन, वृन्दावन

[३३]

"श्रीधाम व संत"

श्रीवृन्दावन धाम की महिमा कहें या श्रीरसिक महानुभावों की महिमा का वर्णन करें, दोनों ही एक दूसरे से शोभान्वित हैं, ओतप्रोत हैं। इस प्रेम भूमि की शोभा इन रसिकों से है। श्रीधाम व संत दोनों की अनन्यता में ही रहने व अपने जीवन को समर्पित करने वालों में से हमारी पू.श्रीबहिनजी थीं। परम पूज्य श्रीश्री महाराजजी की कृपा से व श्रीजी का परिकर जो आज भी मेरे पूज्यजन हैं, उनकी कृपा से बहिनजी का दर्शन व सेवा का अवसर मिलता था, तो मैं जाता उनके दर्शन हेतु।

जितनी निकट से मेरे पूज्यजनों ने उन्हें देखा व समझा, उतना मैं नहीं देख सका, न समझ सका फिर मैं क्या उनके विषय में लिखूँ व कहूँ।

श्रीधाम में अनन्य निष्ठा थी उनकी। त्याग, वैराग्य, प्रेम ही उनके जीवन का शृंगार था, वाणी सरस थी, दैन्य उनके रोम-रोम में था। रहनी भी एक जैसी थी, कभी उन्हें न अच्छा खाते-पीते देखा, न अन्य चर्चा करते देखा। केवल संतो-भक्तों की ही गाथा लीलाओं का गुणगान करना यही उनकी दिनचर्या थी। जगत में रहकर उसका विस्मरण रहना, उनके जैसा मैंने औरों में कम ही देखा है। उनकी उपस्थिति हमारे जीवन की उपलब्धि थी परन्तु क्या करें श्रीठाकुरजी ने उन्हें अपने पास बुला लिया या वे स्वयं ही आकर अपने साथ ले गये। श्रीबहिनजी के चरणों में शत-शत प्रणाम करता हुआ श्रद्धा सुमन अर्पण करता हूँ।

परम पूज्य श्रीजी का शरणार्थी
भगवानदास, वृन्दावन

[३४]

"देहातीता"

पू॰ संतोष बहिनजी से बहुत प्यार दुलार मिला। उनके साथ बिताया हर पल याद आता है। जिस दिन उन्हें लकवे का अटैक हुआ, उस दिन भी मेरे पहुंचते ही सदा की तरह किताब खोल कुछ सुनाने का प्रयास करने लगीं। दायें हाथ में बिलकुल ही तो ताकत नहीं थी पर फिर भी वो किताब को जैसे तैसे खुद ही पकड़कर पढ़ रही थीं। मेरे बहुत मना करने पर भी न मानी। मुझे इस बेबसी पर रोना आ रहा था। अपनी भावनाओं को नियंत्रित नहीं कर पा रही थी। उस रूदन को समेटे मैं जल्दी ही घर लौट आई। अहा.... शरीर से, बीमारियों से ऊपर उठी हमारी पूज्या संतोष बहिनजी।

– सुलोचना बाई, वृन्दाबन

[३५]

"करूणामयी"

करुणा का अगाध समुद्र थीं। जब भारती बहिनजी कोलकाता चली गई तो मैं अकेली सी पड़ गई। कभी अकेले इस तरह रही न थी। अपने को बहुत ही असहाय लग रहा था। दिन तो पूजा पाठ में बीत जाता रात को डर लगता था- पूरी पूरी रात सो नहीं पाती थी। पू॰ संतोष बहिनजी को पता चलते ही वो शाम को मेरे यहां आई। पूछने लगी, "कैसे रहती हो क्या करती हो।" मैंने उन्हें बता दिया- दिन में ये पाठ करती हूँ। ठाकुरजी के वस्त्र बनाती रहती हूं पर रात को नींद नहीं आती। ममतामयी उसी वक्त मुझे अपने साथ लेकर गई। खूब सारा घी डालकर परांठा बनाकर खिलाया। घी की स्निग्धता थी या उनका स्नेह- उस रात मैं खूब सोई। उनके जैसे संत बहुत ही दुर्लभ हैं।

– संतोष, वृन्दावन

[३६]

"अनुभूति विषय"

उनके साथ बिताया हर क्षण अनुभूति का विषय हैं शब्दों में उसे कैसे व्यक्त करूं.........

– प्रकाश रहेजा, वृन्दाबन

* * *

[३७]

"नेहमयी"

प्रातःस्मरणीय पूज्या संतोष बहनजी के चरण वन्दन। उनकी दृष्टि में सब बराबर थे। धर्मजी की शरणापन्न मुझ पर भी उनका स्नेह कम नहीं था। मैं जब भी जातीं कहती "तेरी ठाकुर जल्दी सुनते हैं- तू ब्राह्मण पुत्री है न।" बार बार बताने पर भी कि मैं ब्राह्मण नहीं हूं, वे यही दोहरातीं। महापुरुष कब क्या कहते हैं, उनकी वाणी का क्या रहस्य है ईश्वर ही जाने। बहिनजी लौकिक लीला को समेट हमारी पहुंच से दूर हो गई हैं पर मुझे विश्वास है वो अब भी हमारा मार्गदर्शन करती रहेंगी और उनकी कृपा सदैव बनही रहेगी। उन प्रेममयी के चरणों में वन्दना।

– उर्मिला धर्मकुटीर, वृन्दाबन

* * *

[३८]

साध की महिमा बरने कऊन प्राणी।
नानक साध की शोभा प्रभु माहिं समानी।।
आपे जानै साध बड़ाई। नानक साध प्रभु बन आई।।

संतों के संतत्व को केवल एक उनके इष्ट ही जानते हैं और इष्ट के इष्टत्व को केवल उनके निजजन। शब्द तो मन वाणी और कलम को ही सार्थक करते हैं। संतोष बहिनजी भी ऐसी थीं। उन्होंने अपने ठाकुर को पा लिया था। उनका समस्त जीवन अपने उन एकमात्र सर्वस्व के लिए था। सामान्य क्रियाकलापों की तो बात ही क्या, उनके हर वचन से उनसे मिलने वालों को शारीरिक मानसिक एवं आध्यात्मिक तुष्टि पुष्टि मिलती है।

सकल भुवन मध्ये निछणास्तेपि धन्य।
निवसति हृदि येषां श्रीहरि भक्तिरेका।।
हरि रपि निजलोकं संबंधातो बिहाय।
प्रविशति हृदि तेषां भक्ति श्रत्रोपनद्धः।।

ऐसे महापुरुष को कोटिशः वंदन और यही प्रार्थना है कि हम भी उन्हीं के अभीष्ट इष्ट के सच्चाई से बन सके।

– वृन्दा

* * *

[३९]

"श्रद्धेया"

घर में सबसे सुना था, संतोष बहिनजी बहुत पहुंची हुई संत है। उनके दर्शन की बहुत लालसा थी। जब पहली बार वृन्दावन आई तो अंकलजी (श्रीवशेशरनाथ गुप्ता) मुझे पू॰संतोष बहिनजी से मिलवाने ले गए। उनसे मिलते ही मन में श्रद्धा उमड़ पड़ी। उसके बाद जब भी वृन्दावन आई, उनसे मिले बिना रहा नहीं गया। अक्टूबर २००३ में दशहरे पर मैं वृन्दावन थी। मैं जब उन्हें प्रणाम करने गई तो उन्होंने मेरे सिर पर हाथ रखा, मुझे एक अलौकिक शक्ति का संचार अनुभव हुआ। मैं बहुत दुःखी थी, मेरी मां बहुत ही बीमार थी। उनका स्पर्श बहुत ही सान्त्वना प्रदायी था। हालांकि उस वक्त मुझे अपनी मां की बीमारी का कुछ भी चिन्तन न था, पर अन्तर्यामिनी बहिनजी ने कल्याण से कुछ चौपाईयां निकाल पाठ करने को कहा। मुझे तब भी मां की बीमारी याद नहीं आ पाई थी। परन्तु आश्चर्य वृन्दावन से आने के पश्चात् मां के स्वास्थ्य में काफी सुधार होने लगा। दो मास बाद वो अपने आप ही चलने भी लग गई, जो चारपाई से बिना सहारे उठ भी नहीं सकती थीं।

जुलाई २००४ में मुझे पू॰ बहिनजी की बीमारी का पता चला। मैंने मन ही मन उनसे प्रार्थना की। 'बहिनजी, मुझसे मिले बिना मत जाना।' परंतु अगले पल ही लगा कि मैं अपने स्वार्थ के लिए बहिनजी को तंग कर रही हूं, ये गलत है। उन दिनों अधिक मास चल रहा था। गोवर्धन परिक्रमा और उनके दर्शन की अभिलाषा लिए मैं वृन्दावन के लिए चल पड़ी। १ अगस्त को बिहारीजी के दर्शन कर उन्हें मिलने सेवाश्रम गई पर वो सो रही थीं। मन की प्यास अधूरी ही रह गई। अगले दिन शाम मैं बहिनजी के दर्शन करने फिर पहुंची। ठाकुर कृपा से बहिनजी के अच्छे से दर्शन हुए, मेरा मन शांत हुआ।

मैं अगले दिन अम्बाला पहुंची ही थी कि अंकलजी का फोन आया- "बहिनजी चली गईं।" मन स्तब्ध रह गया, श्रद्धा से शीश झुक गया और नैन सजल हो गए। बहुत बड़ी संत थी वो, उन्होंने मेरे मन से की गई प्रार्थना कोसों दूर से सुन ली थी। उनके चरणों में शत् शत् प्रणाम!

– नंदिता, अम्बाला

[४०]

"प्रेरणाप्रद जीवनी"

पूज्या संतोष बहिनजी के प्रथम दर्शन मैंने दिनांक २७.५.१९७१ को किए थे। वे अंदर और बाहर के प्रपंच जगत से करोड़ों मील दूर थी। त्याग, वैराग्य एकरसता व दीनता की साक्षात् मूर्ति थी। कबीर दासजी ने कहा है-

आग आंच सहना सुगम, सुगम खड्ग की धार।
नेह निभावन एक रस, महा कठिन व्यौहार।।
खरी कसौटी राम की खोटा टिकै न कोई।
राम कसौटी सो टिके जो जीवित मृतक होई।।

ये उक्तियाँ उनके जीवन में अक्षरशः खरी उतरती हैं। उनके जीवन से शिक्षा लेकर हम अमल कर सकें तो सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

– राजकुमार, हरिद्वार

* * *

[४१]

"पावन स्मरण"

परम पूजनीया बहिनजी के लीला संवरण से हृदय में अपार व्यथा है। हाय! अब उनका प्रत्यक्ष दर्शन लाभ न मिल सकेगा ऐसा स्मरण होने पर अपार पीड़ा वेदना होती है। अस्पताल में जब उन्हें रूग्णावस्था के समय प्रणाम करने गया तो उन्होंने बड़े प्यार से कपोलों पर हाथ फेर कर थपकी दे सिर पर हाथ रखते हुए आशीर्वाद दिया था– "प्रभु अपार सुख दे अपना प्यार दे।" सदा ही अत्यन्त प्यार से यही आशीर्वाद दिया करती थीं। उनका लाड़ स्नेह अनोखा ही था। आज वह सब स्मरण आने पर अपार कष्ट देता है कि अब वह हमसे छिन गया।

पू॰बहिनजी की जीवनशैली महान संतत्व की खरी मिसाल थी। अन्तर्यामिनी संतोष बहिनजी में संतों के सभी गुण पूर्णरूप से थे, उनका दैन्य भाव तो विलक्षण था। मैं जब भी पू॰ श्री बाबा के साथ उनके पास जाता तो उनका पूज्य बाबा से एक नन्हीं बच्ची की तरह के व्यवहार को देखते ही बनता था। उनका पूज्य बाबा से पद सुनाने के लिए बार-बार जिद भरा आग्रह करना व बाबा का मना करना। पुनः उनका गुहार करना- आपका क्या बिगड़ जाएगा जो आप एक बार और सुना देंगे.....(पद– तो हू तो ही आवे लाज ना)

मैंने अपने पूज्य पिताजी से कहा कि पूज्या बहिनजी का संस्मरण ग्रन्थ बन रहा है सुनते ही वे बोले कि उनके बारे में मैं अवश्य लिखूंगा...क्योंकि संतों के बारे जानना व लिखना अत्यन्त ही कठिन हैं जब तक वे स्वयं ही अपने बारे में कुछ न बताएं तब तक उनके बारे में क्या ही जाना जा सकता है। फिर उन्होंने पूज्या संत नथिया बाई का वह प्रसंग सुनाया कि कैसे श्रीयुगल सरकार ने नथिया बाई को यमुना पुलिन पर प्रत्यक्ष दर्शन देकर कृपा की थी।

परम पूज्या संतोष बहिनजी जैसे सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद देती थीं वे सदा सदा फलते रहें यही उनके चरणों में प्रार्थना है। उनका परम पावन स्मरण ही जीवन का आधार है, सम्बल है। वे कृपा कर सदा अपना स्मरण बनाए रखें।

– अनुराग मिश्र

[४२]

"संत पारखी"

पूजनीया बहिनजी के दर्शनों का लाभ मुझे खूब हुआ। मैं पूज्य बाबा मनोहरदासजी के साथ उनके पास अक्सर जाता रहता था। कभी-कभी अकेले भी उनके दर्शन को चला जाता था। वे पूज्य बंगाली मैय्या (स्वर्ण प्रभा घोष) की कुशलता पूछती और कहती "वे कोई साधारण नहीं हैं, राजघराने की वधू हैं बड़े सुख वैभव में रही हैं।" वृन्दावन में बंगाली मैय्या को जितने भी भगवदीय अनुभव हुए जैसे प्रभु नित्यानंदजी की पत्नी जाह्नवीजी का साक्षात्कार, भगवान शंकर की कृपा स्वरूप रुद्राक्ष का प्राकट्य आदि का वर्णन सुनातीं और कहती "आप सब परिवारीजन उनकी खूब सेवा करना।" मैं सोचता बहिनजी कभी अपने जीवन के बारे में अनुभवों के बारे में कुछ नहीं कहतीं। एक दिन उन्होंने बताया कि उनके पिताजी जेहलम शहर के धनाढ्य व्यक्ति थे। वे अपने घर साधु संतों को बुला बुलाकर भोजन कराते थे और घर के चांदी के बर्तन आदि साधु संतों को बांट देते थे। बाद में तो उनकी स्थिति परमहंसों जैसी हो गई थी। सफेद धोती लपेटे अपने ऊपर कुछ वस्त्र डाल वे नंगे पैर शहर में निकल जाते, नैंन खुले रहते। एक रात को किसी ने देखा वे रास्ते में खड़े चन्द्रमा की तरफ घंटों एकटक देखते रहे। पूज्या बहिनजी ने बताया, पिताजी पर शहर से दूर

रह रहे एक संत की कृपा हुई थी। उनसे मिलने के बाद वे नेत्र बन्द किए शान्त भाव से लेटे रहते और सभी सुख वैभव से उदासीन हो गए थे। कोई आकर उन्हें कुरान सुना जाता तो कोई भगवद्गीता। वे महान संत थे। परिवाद में भक्ति मंदाकिनी बह रही थी सो पूज्या संतोष बहिनजी में भी जन्मजात भक्ति के संस्कार थे। भक्ति की प्रगाढ़ता के साथ-साथ बहिनजी जीवमात्र को तनिक सा भी दुःखी देख उसकी सहायता के लिए दौड़ पड़तीं।

एक दिन बहिनजी ने बताया वृन्दावन में किस रूप में कौन संत रह रहा है कहा नहीं जा सकता। एक बार वे रास्ते से जा रही थीं तो मैले कुचैले वस्त्रों में एक व्यक्ति लेटा हुआ था। उसके वस्त्रों से असहनीय दुर्गन्ध आ रही थी पर वे अनवरत रूप से भगवद्नाम ले रहा था। पू.बहिनजी ने राह चलते कई व्यक्तियों से सहायता मांगी पर कोई तैयार न हुआ। एकाएक एक मोटर में एक पंजाबी लड़का आया, बहिनजी के आग्रह पर वे सहायता को तैयार हो गया। स्वयं अपने कपड़े उतार उसने उस व्यक्ति के, जो पटरी पर पड़ा था, सारे कपड़े उतार उसे नहलाया और स्वच्छ कपड़े पहना दिए। साफ सुथरी जगह लिटा पूज्या बहिनजी ने एक प्याला चाय मंगाकर उसे पिलाई। उन सज्जन का नाम उच्चारण निरन्तर चल रहा था। चाय के एक दो घूंट पीते ही "हे राधा, हे प्राण प्यारी" कहते-कहते उसने प्राण त्याग दिए। उसी पंजाबी लड़के की सहायता से बहिनजी ने यमुना पर ला उसका संस्कार करवाया। ऐसा था पूजनीया बहिनजी का जीवन, प्राणीमात्र के प्रति अपार करूणा से भरा हुआ।

महान संत पू॰ श्रीराधा बाबा को ही बहिनजी अपना गुरु मानती थी। पू॰ राधा बाबा व पू॰ भाईजी जब भी वृन्दावन आते वे, बहिनजी उनसे मिलते बिड़ला मन्दिर जाती। पू॰ बाबा किसी की तरफ देखते नहीं थे। पूजनीया बहिनजी के सामने आते ही उन्होंने अपने नेत्र खोल

दिए थे। हमारे पू॰ पिताजी श्रीकृष्णचन्द्र मिश्र बताते थे जब वे राधा बाबा के पास गोरखपुर बैठे थे, किसी ने वृन्दावन से पू॰ बहिनजी द्वारा भेजी हुई इलायची लाकर दी। पू॰ बाबा उन इलायची को एक-एक करके कुछ विशिष्ट व्यक्तियों को बांटते जा रहे थे और कहते भी जा रहे थे– महाराज इन इलायची को प्राप्त करने का अधिकार बहुत दुर्लभ है।"

परम पूजनीया बहिनजी एक बार मुझसे बोली– "कल तुम्हारे पिताजी हमें बाजार मिले थे। मेरी उनसे बात हुई। उनकी संतों के प्रति आस्था, सज्जनता, सरलता सादगी और भक्ति देख बहुत खुशी होती है। ऐसे व्यक्ति के पास से भी कोई गुजर जाता है तो उसके सद परमाणुओं से प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। फिर जो महान सिद्ध संत हैं, उनके पास बैठने वालों पर कितना बड़ा प्रभाव पड़ता होगा इसकी कल्पना नहीं की जा सकती।" पूजनीया बहिनजी ऐसी ही संत थी। उनके दर्शन कर, उनके मुख से संत जीवनियां सुन बहुत अच्छा लगता था। खुद पढ़ी हुई घटनाएं भी जब उनके मुखारविन्द से सुनते थे तो और ही प्रभाव डालती थीं, पूजनीया बहिनजी को मेरा कोटि-कोटि वन्दन।

नीरव मिश्र
श्रृंगारवट गेट, वृन्दावन

[४३]

हृदयोद्गार

वह मरण एक त्योहार था,
अद्भुत अनोखा साज था,
नयन निमिलित, अधर मुकुलित,
प्रिय दरश का अति चाव था।।

वह समर्पित प्राण थीं,
श्याम की उरमाल थीं,
सन्तनिष्ठा की महकती,
कौमुदी अभिराम थीं॥
प्रिय नाम जल की मीन थीं,
मुख शशि किरण लवलीन थीं,
रूप रस मधु पान मत्ता,
ब्रजधाम का शृंगार थीं॥

शशिकला मूले
वेणुविनोद कुंज, वृन्दावन

[४४]

प्रातः स्मरणीया

लगता है रसिकजनों के सान्निध्य में रहकर भी उनकी गहराई का पता लगना कठिन होता है। ऐसे में दूरस्थ परिकर विदेशवासी तो क्या ही कहें। हाँ रसिकजन रसिकजनों को समझते हैं।

प्रातःस्मरणीया श्री सन्तोष बहिनजी के विषय में ऐसे ही किन्हीं रसिकजन से मुझे पता लगता रहा। प्रातःस्मरणीया शब्द भी उन्हीं का दिया हुआ है। 'यथाश्रुत यथा गृहीत्वा' भाव से श्रद्धेय बहिनजी द्वारा उन्हें बताई एक दुर्लभ वार्ता संक्षेप में लिख रही हूँ।

तब पू॰ बहिनजी की आयु लगभग ३० वर्ष की रही होगी सदा की साथिन श्री सरला बहिनजी भी साथ थीं। दोनों ने सुना एवं पढ़ा था कि श्रीकृष्ण आज भी श्रीवृन्दावन के वन उपवनों में यत्र तत्र रमण करते रहते हैं व दीख सकते हैं। मार्ग भूलने वाले को किसी न किसी रूप में आकर मार्ग बता देते हैं। इसी सहज विश्वास से, ग्रीष्म की सन्ध्या भी न होने पाई थी, दोनों श्रीयमुनाजी के पार वन्य क्षेत्र में निकल गईं। नयनों में अन्वेषण था.....सब दिशाओं में किसी की प्रतीक्षा थी। अन्धेरा होने पर होश आया कि रात होने को है। वापसी का मार्ग अन्धकारमय हो चुका था पर वे कहीं दिखाई भी नहीं दिये। भयावह स्थान पर एवं बियावान क्षेत्र में भयाक्रान्त होना भी स्वाभाविक था पर फिर भी उनके मिलने की आशा बनी ही रही।

जहाँ तक दृष्टि जा सकती थी देखा– कुछ दूरी पर एक जीर्ण क्षीर्ण मन्दिर दिखाई दिया। और कुछ चारा न होने पर वहीं कुछ विश्राम करने का विचार किया। मन्दिर के भीतर टूटी फूटी प्रतिमाएं दीखीं। वहीं से एक साधारण सा बालक आया, बोला, "मैं यहीं का हूँ, चिन्ता न करो तुम्हें मार्ग दिखाता ले चलूँगा।" वह कभी साधारण बालक लगता देखने में और नयनों में देखने पर ठाकुर असमंजस। कुछ ही क्षणों में आगे वह निकल गया कहता हुआ, "यही मार्ग है।" प्रत्यक्ष खड़े होकर कुछ पल मृदुल मुस्कराए और न जाने कहाँ अन्तर्धान हो गए। पर तभी पू॰बहिनजी ने अपने आपको अपने आवास के निकट पाया।

– कुलवन्त मांड एम.ए.
लंदन (कैनेडा)

[४५]

अनुरागमयी

सन् १९६८ में स्कूल की छात्राओं को भ्रमणार्थ श्रीधाम वृन्दावन लाने के मिस मुझे यहाँ आने का सर्वप्रथम सौभाग्य प्राप्त हुआ। ज्योंही अपनी भक्तिमती परम पूजनीया बोबो (सुश्री ऊषा बहिनजी) के कक्ष में प्रवेश किया तो प्रातःस्मरणीया सन्तोष बहिनजी के दर्शन का

सुअवसर मिला। पू॰बोबो ने कहा, "राज पहुँच गई तू। बहिनजी कह रही थीं कि अपनी छोटी-सी बहिन से मिलकर ही जाऊँगी।" फिर पू॰ बहिनजी से बोली–"यह बहुत पहले से वृन्दावन आना चाह रही थी पर माता-पिता ने आने नहीं दिया। अब छात्राओं को घुमाने का इधर का कार्यक्रम बनाकर आ पाई।" सफेद मोटी धोती के सादे लिवास में दिव्य मुखमण्डलमयी अलौकिक आनन्द सा बिखेरती बहिनजी ने बहुत प्यार से मेरा हाथ पकड़ कर कहा, "अब तू आ गई है तो ठाकुर से और श्रीधाम से प्रार्थना करना कि तुझे बार-बार बुलाते रहें। ये ममतामय सच्ची पुकार अवश्य सुनते हैं।" सचमुच श्रीठाकुरजी, श्रीधाम एवं पू॰बहिनजी की ऐसी कृपा हुई कि मुझे तब से लेकर सन् १९८२ तक वर्ष में दो बार यहाँ आने का अवसर मिलता रहा। सन् १९८३ से तो श्रीधाम वृन्दावन ने अपनी क्रोड में स्थान दिया हुआ है। श्रीठाकुरजी, श्रीधाम एवं बहिनजी की कृपा मुझ पर इस ही प्रकार बनी रहे।

श्रीवृन्दावन आवास अवधि में अम्बाला से यहाँ आने वाले भाई बहिन मुझसे कहते कि उन्हें भगवत्स्वरूप परम पूज्य भाई साहब ने पू॰ सन्तोष बहिनजी के दर्शन करने के लिए कहा है। मैं उन्हें बहिन जी के दर्शनार्थ ले जाती। उनसे मिलने पर बहिनजी कहती," तुम्हें श्याम भैया का संग मिला है उसे साधारण न समझना, अपराध हो जाएगा। वह उच्चकोटि का सन्त है अपने को छिपाए हुए। मैं अनुभव से कहती हूँ कि वह ठाकुर के प्राणों का प्राण है।"

परम पूज्या बहिनजी के हृदय में भरा अनुराग उनके मुखमण्डल एवं वाणी से सतत झरता रहता था। जो मिलने आता उससे भगवत्चर्चा एवं सन्त चर्चा करतीं। जिस प्रेम उदधि में बहिनजी डूबी रहती थीं उसमें ही हमें निमज्जित करें। स्नेह, सरलता औदार्य एवं करूणा की प्रतिमा को शत्-शत् प्रणाम।

– राज सक्सेना, वृन्दावन

[४६]

ममतामयी संत

परम पूजनीया प्रातः स्मरणीया संतोष बहिनजी के विषय में लिखना सूर्य को दीपक दिखाना है फिर भी अपनी भावना व्यक्त करने की उत्सुकतावश लिख रही हूँ। संतों का जीवन तो उन श्रीहरिः के प्रेम रस में निरन्तर सराबोर रहता ही है पर यदाकदा कोई कण हम जैसों की झोली में भी आ जाता है और जीवन सार्थक हो जाता है।

संतोष बहिन जी का ये आशीर्वाद "प्रभुजी तुम्हें अपार सुख दें, अपने चरणों की प्रीति दें।" आज भी हृदय को झकझोर सा देता है। शायद उसी प्रेम के बल के सहारे यह तुच्छ सा जीवन बलयुक्त होकर यदाकदा श्रीधाम में विचरण कर लेता है। अन्य किसी को किसी भी तरह का कोई कष्ट न हो यही उनकी निरन्तर भावना रहती। धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन और अपने ठाकुरजी की सेवा में निमग्न रहतीं। अन्त समय तक निरपेक्ष भाव से अपना सब काम खुद ही करने को प्रयासरत रहतीं। अस्पताल में मैं जब उन्हें अंतिम बार प्रणाम करने गई थी तो वे उस दिन काफी सजग थीं। देर तक मेरे सिर पर हाथ रखे कुछ कुछ कह रही थीं – जो वाणी अस्पष्ट होने की वजह से मैं जान नहीं पाई, पर ममतामयी के नैनों की अभिव्यक्ति मन को छू गई। श्रीहरिः से प्रार्थना है कि उन नैनों से अभिव्यक्त आशीर्वाद हमारे जीवन में फलीभूत हो हमारा जीवन सार्थक कर दे।

– कौशल गुप्ता

* * *

[४७]

संत निष्ठा

२००३ का दिसम्बर माह था। पू॰ काकी बहिनजी मुझे अपने साथ एक संत के दर्शन कराने ले गईं। सर्व सुखों के त्याग की प्रतिमूर्ति भगवद् भजन में पूर्णतया लीन, किसी धार्मिक ग्रन्थ के अध्ययन में रत सादी भेषवूषा में तेजोमय मुख विध वाली पू॰संतोष बहिन जी के दर्शनों का सौभाग्य मिलना वास्तव में ईश्वर की असीम कृपा का प्रतीक है।

काकी बहिन ने जब मेरा परिचय उन्हें दिया तो मेरे प्रणाम करने पर ढेर सारे आशीर्वाद उन्होंने दिये और ठाकुर जी के दर्शनार्थ अपने कक्ष में ले गईं। ठाकुर जी की चौकी पर ही रखे विभिन्न संतों के चित्रपट हाथ में ले लेकर उनसे परिचय करवाया। मुझे लगा वो संतों के माध्यम से भगवान के ही दर्शन करती हैं। अपने जीवन काल में वो अनेकों संतों के सम्पर्क में आ चुकी थीं और कई संतों की प्रत्यक्ष रूप से सेवा भी कर चुकी थीं।

फिर पू॰बोबो जी की पुण्य तिथि पर उनके दर्शन हुए। रिक्शा में से उतरकर लगभग घिसटते-घिसटते उनका ठाकुरजी के समक्ष तक आना और पू॰सुशीला बहिन जी के हाथ थामे वो मौन संभाषण मन को अन्दर तक छू गया। पू॰ बोबो के प्रति उनकी भावना उनके अन्तर की संत निष्ठा को व्यक्त कर रही थी। एक संत की दूसरे संत के प्रति अद्वितीय श्रद्धाञ्जलि थी।

अन्तिम बार उनकी अस्वस्थता की सुन उन्हें प्रणाम करने गई। वहां उन्हे अचेतन अवस्था में संसार से अचेत पाया। वो हम सबसे नाता तोड़ अपने प्रियतम श्यामसुन्दर से अटूट लौ लगाए पड़ी थीं। श्रद्धेया संतोष बहिनजी कृपा कर हमें भी उसी नाते की सुदृढ़ता प्रदान करें, यही प्रार्थना है। उनके चरणों में शत् शत् वन्दन।

– स्वदेश, आनंदधाम, वृन्दावन

[४८]

महान संत

पू॰ संतोष बहिनजी प्रिया प्रियतम की प्यारी सखी थीं। उनका ठाकुर सेवा में प्रेम व प्रीति भरा अनुराग था। पू॰ बोबो के जाने से पहले ही संतोष बहिन जी को दो एक बार आभास हो गया था। श्रद्धेय राधा बाबा के जाने से पहले भी उन्हें आभास हो गया था। यह सब उन्होंने किसी को बताना नहीं था पर ठाकुर जी ने उनके मुख से निकलवा दिया। वे महान संत थीं। उनको मेरा शत् शत् नमन।

– शोभा, वृन्दावन

* * *

[४९]

मधुर स्मृतियाँ

जब तक सरलाजी के बारे में न कहा जाए, पू॰ संतोष बहिनजी का जिक्र अधूरा है। इन दोनों की अद्‌भुत जोड़ी थी। पहले सरल बनो तो जीवन में संतोष मिलेगा। जब संतोष होगा तो प्रिया प्रियतम की रसवर्षा होगी और प्रिय प्यारी के परिकर के दर्शन होंगे।

एक बार संतोष जी, सरलाजी व सावित्री जी (ठाकुर धराचन्द्रजी की बहन) उड़िया बाबा के आश्रम में रास रस के लिए गए। रास अभी शुरू नहीं हुआ था। यह तीनों आगे की पंक्ति में जाकर बैठ गईं। परन्तु रास के गोस्वामी ने उन्हें बुरा भला कहकर वहां से हटा दिया। वह स्थान विशिष्ट व्यक्तियों (वी.आई.पी.) के लिए था। उधर रासबिहारीजी ने रास में आने से इंकार कर दिया और कहा कि जिनके लिए रास

करते हैं, उन्हें हटा दोगे तो रास कैसे हो। फिर स्वामीजी ने बहुत अनुनय विनय कर आदर सहित इन्हें आगे स्थान दिया तो रास हुई और भी कितनी ही घटनाएं और मधुर स्मृतियां हृदय पटल पर आ रही हैं। स्नेहमयी ममतामयी पू॰संतोष बहिनजी किसी के भी दुःख दर्द से द्रवित हो जाती थी। एक बार एक कुत्ते की मरणावस्था में यह उनके पास बैठी गीता का पाठ करने लगीं। सरलाजी बहुत मुश्किल से इन्हें समझाकर घर लाईं।

सन् १९६२-६३ की बात है। उन दिनों संतोष बहिनजी गोपीनाथ बाजार में बनारसी भाई के घर रह रही थीं। वही पू॰ मनोहर भैया व बंगाली बाबा धाम किंकर जी के दर्शन हुए। दो और बहनों के दर्शन हुए। संतोष बहिनजी मुझे लेकर यमुना तट पर गईं। वहीं रास्ते में मस्ती के आलम में डूबी पू॰ ऊषा बहिनजी के दर्शन करवाए। खुद साथ जाकर रासमंडल में ध्रुवदासजी की समाधि के दर्शन करवाए। पू॰ महाराजश्री, घनश्याम ठाकुरजी और पू॰ देवीजी से परिचय करवाया था। बांकेजी और कृष्णा जी के सत्संग का आनंद भी दिलवाया। श्रीधर्मजी का प्यार तो लाहौर से मिलता रहा था पर वृन्दावन में पू॰ ऊषाजी, पू॰ धर्मजी व पू॰ संतोषजी की रसभरी चर्चाओं का वर्णन नहीं कर सकता। और ललित बहिनजी के साथ इनका रज मिलन नहीं भूलता। उनके बारे में क्या लिखूं? क्या न लिखूं? बस गूंगे के गुड़ का स्वाद है। उनकी याद आती रहेगी।

– दयाकिशन

***

[५०]

दैन्य मूर्ति

संत शब्द श्रवणों में पड़ते ही मन में एक त्याग, वैराग्य, तितिक्षा की सौम्य मूर्ति के दर्शन होने लगते हैं कलि पावन अवतार श्री श्रीमन् महाप्रभु के अनुसार "तृणादपि सुनिचेन तरोरिव सहिष्णुना। अमानिना मान देन कीर्तनिया सदा हरि॥" की प्रतिमूर्ति श्रीश्री संतोषबहनजी, पूर्णतः, अक्षरशः उपरोक्त स्वरूप को प्राप्त थीं।

सन् १९७९ से मैं श्रीधाम वृन्दावन में परम पूज्यपाद श्रीश्री... .श्री महाराजश्री के चरणों की कृपा छाया में आता रहा हूँ।

एक बार मैं पूज्य श्रीठाकुर जी के पास बरामदे में बैठा हुआ था मैंने श्रीठाकुरजी से पूछा– "ठाकुरजी संतों की मस्ती कैसी होती है वे कैसे चलते है, उठते है, बैठते हैं उनकी भाव-भंगिमा कैसी होती है।"

मेरे पूछने के कुछ पल बाद ही दरवाजा बजा और पूज्या देवीजी ने सामने प्रवेश किया। पूज्य ठाकुरजी ने कहा "लो तुम्हारा उत्तर सामने से आ रहा है।"

श्री निधिवन से 6 घंटे भजन करके लौट रही मस्ती में झूमती हुई अपने आपमें खोई, किसी गहन विचार में लीन, बड़े-बड़े नेत्र कुछ लालिमा लिये। मेरा समाधान हो गया।

कुछ दिनों बाद ऐसा ही एक प्रश्न मन में आया कि जो संतजन त्याग, वैराग्य एवं अमानिपन से युक्त होते है वे कैसे होते है, उनकी रहनी कैसी होती है।

पूज्य बाबा (मनोहरदासजी) से यह जिज्ञासा व्यक्त करने पर बाबा ने पूज्या संतोषबहनजी का नाम बताया और कहा जाकर दर्शन करो। पूज्या बहनजी के दर्शन करने पहुँचा तो देखा एक तख्त पर

बिना चटाई या दरी के बड़े दीनपने से बैठी बहनजी को। प्रणाम करने पर एकदम चीख पड़ीं "क्या करते हो भैय्या, मैं इस योग्य कहाँ? आप श्रीमहाराजजी के परिकर हो ऐसा मत करो।" फिर बड़े स्नेह से परिचय पूछा, खूब सारा प्रसाद दिया और कहा "संतों की कृपा बड़े भाग्य से मिलती है तुम बड़े भाग्यशाली हो जो तुम्हें पूज्य श्रीमहाराज जी की सेवा करने का सौभाग्य प्राप्त हो रहा है।"

खुद को परम लघु समझकर दूसरों की बड़ाई करना तथा सदैव सत्संग में डूबे रहना यही पूज्या संतोष बहनजी को करते हुए देखा।

एक बार मैं पूज्य बाबा (मनोहरदासजी) के साथ श्रीसंतोषबहनजी के यहाँ गया (श्री अमीचंद के घर पर) तो देखा पूज्या बहनजी तख्त पर बैठी हुई हैं, ठंड के दिन हैं पर बिना कुछ ओढ़े। कोई सत्संग की पुस्तक है नजरें नीची किये बड़ी तन्मयता से पढ़ने में व्यस्त हैं, कभी-कभी नाक एवं आँखों से बहते पानी को पोंछती जा रही हैं मुख पर अत्यन्त दैन्य एवं करूणा का भाव विराजमान है। पू. बाबा और मैं दूर से देखते रहे, पास पहुँचने पर एकदम बोल पड़ी भैय्या कितना सुन्दर वर्णन है। कोई अंग्रेज का वर्णन था सो बाबा को सुनाया और सतत सत्संग की चर्चा होती रही। प्रणाम करने पर वही बात, "धोबी का कुत्ता न घर का न घाट का" कहकर पुनः अपने चरण सिकोड़ लिये।

बहनजी की अस्वस्थता के दिनों में मुझे पूज्य बाबा के साथ जाने का अवसर मिला, कुछ समय तो स्वास्थ्य की चर्चा चलती परन्तु फिर सत्संग चल पड़ता। पूज्य बाबा मुझसे कहते, "देखो इनका मन कितना अलग रहता है शरीर से।"

श्रीनानक जी, श्रीबुल्ले शाह एवं कई हिन्दू, मुसलमान सन्त-फकीरों की चर्चा करते समय वे भावाविभूत हो जातीं। इस पावन भारत भूमि जिसमें समय-समय पर प्रभु ने कई अवतार लिये तथा

धरा धाम को पवित्र किया, वैसे ही कई सिद्ध संतों ने (प्रगट एवं अप्रगट रूप में) जन्म लिया, उनके प्रति पूज्या बहनजी के हृदय में अपार श्रद्धा तथा प्रेम का समुद्र ठाटें मारता रहता था। प्रातः स्मरणीय परम पूज्य भाईजी श्रीश्री हनुमान प्रसादजी पोद्दार एवं पूज्या श्रीश्री राधा बाबा (गोरखपुर) जिनके प्रति तो उनका गुरु भाव ही था।

पावन ब्रज भूमि एवं श्रीधाम वृन्दावन के सभी रसिक सिद्ध संतों के प्रति वे श्रद्धावनत थीं। महासिद्ध संत श्रीश्री सीताराम बाबा ओंकारनाथजी, प्रज्ञाचक्षु श्रीश्री शरणानन्दजी, माँ आनन्दमयी, श्रीश्री उड़िया बाबा जी महाराज, श्रीश्री हरिबाबा जी महाराज एवं परम पूज्य श्रीश्री बालकृष्णदास जी महाराज की चर्चा करते हुए तो वे अघाति नहीं थीं।

पूज्या ललितजी, पूज्या ऊषाजी एवं उनके परिकर, पूज्या श्रीमनोहरदास जी, पूज्या देवीजी पूज्य श्री घनश्यामजी (ठाकुरजी) तथा वेणुविनोद कुंज के अन्य संतों एवं परिकर के प्रति उनका अगाध स्नेह था।

उन्हें भी उपरोक्त संतजन बहुत मूल्य एवं सन्मान देते थे। मेरे देखने में पूज्य श्रीश्री महाराजश्री, श्रीश्री ठाकुरजी, पूज्या देवीजी एवं वेणुविनोद कुंज के अन्य संत एवं परिकर पूज्या बहनजी को बहुत प्यार करते रहे।

सबसे विशेष पूज्या बाबा मनोहरदासजी पूज्या बहनजी को बहुत-बहुत चाहते, प्यार करते तथा सन्मान करते तथा जब-जब भी वे अस्वस्थ होतीं खबर पाते ही एकदम दौड़ ही पड़ते। अंतिम समय में तो बाबा हर रोज घर पर तथा हॉस्पिटल में भर्ती होने पर उन्हें देखने जाते तथा हालचाल लेते।

इस सबमें पूज्या बहनजी का अपना व्यक्तित्व एवं ठाकुर के प्रति समर्पण तथा शरीरातीत रहना ही कारण था।

उनसे नहीं चलते बनता फिर भी परम पूज्यपाद श्रीश्री महाराजजी के प्रत्येक उत्सव में वे अवश्य आतीं। और सबसे बड़े प्रेम से मिलतीं। उनकी उपस्थिति से सभी में प्रेम, दैन्य एवं वैराग्य अनजाने ही में उमड़ पड़ता।

"कुछ लेना ना देना मगन रहना"

वाली उक्ति उन पर बिल्कुल अक्षरशः लागू होती हैं जीवन पर्यन्त किसी से कोई याचना नहीं अपने ठाकुर भले, अपने ग्रन्थ भले और उनकी अपनी रहनी भली।

जीवन के अन्तिम दिनों में शारीरिक रूप से उन्हें कष्ट अवश्य रहे परन्तु उनकी वृत्ति अपने श्रीठाकुर में ही रही।

पार्थिव शरीर छूटने पर उनके दर्शन करने से लगता था, उनके नेत्र किसी अलौकिक वस्तु के दर्शन कर रहे हैं तथा मुख पर पूर्ण सौम्यता एवं संतुष्टि व्याप्त है।

ऐसी अलौकिक- अपने ही साम्राज्य में रहनेवाली परम संत पूज्या संतोषबहनजी के चरणों में मेरा शत-शत नमन।

—विद्याधर

* * *

[५१]

"श्रद्धाञ्जली"

निज प्रियतम के नेहपगी,
अनुराग समेटे उरथल में,
उज्ज्वल दीपशिखा सी जो,
ज्योतित रहती थीं, प्रतिपल॥
सुरभित मलयानिल सी शीतल,
नेहमयी उन्मुक्ता सी,
करुणा की बदली बनकर,
जो छायी रहतीं थीं प्रतिपल॥
श्रद्धा की जीवित प्रतिमा सी,
पावन तरलित जो सुरधुनि सी,
नयनों से ममता की धारा,
झरती रहती थी प्रतिपल॥
ग्रीष्म की जो छाह थीं,
शीत की जो धूप थीं,
दु:ख की गहरी घटा में,
हर दलित के साथ थी॥
उस नेहमयी के चरणों में,
शत शत वन्दन शत शत वन्दन,
उस श्याममयी के चरणों में,
शत शत वन्दन शत शत वन्दन॥

— शशिकला मूले
वेणुविनोद कुंज, वृन्दावन

[५२]

Blessed Divine Soul

I first met Sri Santosh Auntiji in Febuary,1990 . Ofcourse, It was my first visit to Sri Vrindaban Dham. Although, I had heard a lot about this famous place from many people including my close friends, I could not visit Sri Dham before my marriage. An apportunity finally came to me when I got married to Dr.Abhay N. Vats, to visit holy place. During my stay at Vrindaban, I called on for holy darshan of many respected saintly persons like Boboji, Susila Auntiji and Sri Santosh Auntiji. It was some what over whelming for a new person to visit so many places, see and meet so many person in oneday, Leave alone the exhaustion from my marriage celebrations only two days earliar.

Of all the people whom, I met at Shree Dham, the memories of Sri Santosh Auntiji is still fresh in my mind and that she was some what unique. And the feeling that, she gave me from her warm hug and also just seeing, listening and observing was something very special to me. It was her blessings, love and ever lasting sweet memories that always dragged me back to Vrindaban Dham each time I came back to India.

Many people would remember her for many different reasons but, shall remember her as very learned person who had keen interest in reading religious books of high standard. She was a god -beit messenger to love everyone of earth and the job was welldone.

With the passing of time, she grew older and older. Everytime when we visited her. I used to love when she in-

stantly recognized us and started giving blassings to us. She would always tell a verse from the book she was reading or a short story, Usually which was related to our on going circumstances. The last story was about (god and a drunkard) unfortunately, when we visited her last it was in the year 2002. I am not very sure whether she could recognize us at that time and this unsure feeling really hurt me for long time. Now the feeling of not being about to see her when we shall come to India, numbs my whole body. I feel Vrindaban Dham will be half empty without her. I do console myself at least, that I was one of the most fortunate one Who could see her, talk her and blessed by her.

I Offer my deep sense of gratification to wards such a saintly person and pay homage to this blessed departed soul. I shall try to continue to write and read about her. Radhey Radhey!

Dr. Kalyani Rai Vats
220 Rolling hills Drive
Pittsburgh PA 15090



श्रीसन्तोष बहिनजी के अमूल्य उपदेश

- वैराग्य अध्यात्म का स्तंभ है। भक्तिमार्ग का साधन कोई भी हो, उसका संवर्धन तो वैराग्य से ही संभव है। वैराग्य भगवत् प्राप्ति भी कराता है, और प्रेम में भी डुबाता है।

- सभी प्रकार के ऐश्वर्य, सभी प्रकार के सामर्थ्य हमें भगवान से दूर करते हैं। वे वस्तुतः दीनबन्धु ही हैं, दीन होने पर ही उनकी कृपा होती है।

श्रीकृष्णानुरागिणी संतोष बहिन जी लेखक - डॉ. निशा

श्रीकृष्णानुरागिणी

संतोष बहिन जी



लेखक - डॉ. निशा